विपाशा

Hira Lal Thakur
POH. P.O. MOHAL
DIST. KULLU-175126 H.P.

त्रैमासिक पत्रिका

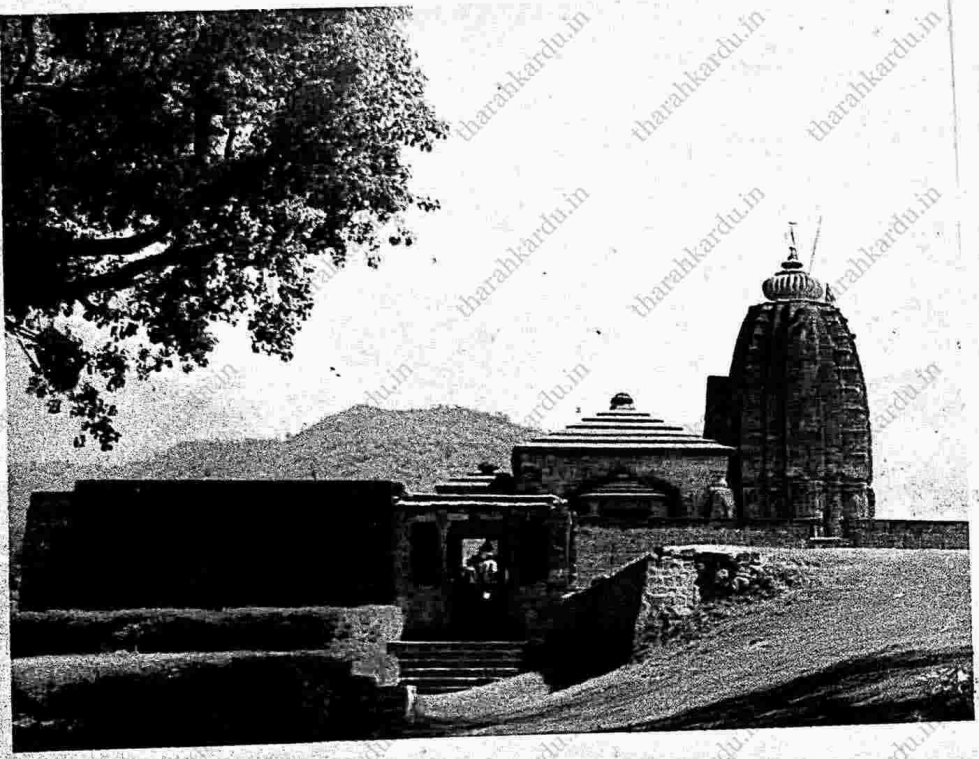

मुखपृष्ठ : पारम्परिक वेशभूषा में किन्नर बाला

ऊपर का चित्र : बैजनाथ मंदिर (ज़िला कांगड़ा)

छाया : हाकम शर्मा

tharahkardu.in

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-7 अंक-38, मई-जून, 1991

मुख्य संपादक
सी.आर.बी. ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि. प्र.

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि. प्र.
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय

5 संपादकीय

निधि : मोहन राकेश

7 मानवीय धरातल का रचनाकार : मोहन राकेश : डॉ. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

16 भूखे : मोहन राकेश की कहानी

22 मोहन राकेश की डायरी के अंश

लेख

27 त्रिलोचन के गीत : डॉ. रेवती रमण

देशांतर

34 ब्रीफकेस (कहानी) : इसाक बाशेविस सिंगर

कहानी

48 अम्माँ का आँगन : डॉ. सत्यपाल शर्मा

57 नाम : गीतांजलिश्री

61 खुलती हुई पाँख (उपन्यास अंश) : डॉ. सुशील कुमार फुल्ल

कविता

67 यह एक उपस्थिति है : सात कविताएँ : नन्दकिशोर आचार्य

70 दो कविताएँ : यादवेन्द्र शर्मा

74 तीन कविताएँ : महाराज कृष्ण संतोषी

समीक्षा

77 आलोचना की सृजनात्मक तलाश : सुरेश सेठ

80 हिमाचल की समकालीन कहानियाँ : एक चयन तथा देव संस्कृति का लोक मूलक दर्शन : केशव चन्द्र

कला

87 मंडी कलम के चित्रकार : एक अध्ययन : कश्मीर सिंह वर्मा

आयोजन

91 नाहन में नवोदित लेखक सम्मेलन : ईशान शर्मा

92 प्रभात कुमार की ड्रिफ्टवुड प्रदर्शनी : अलका चौहान

92 मांडव्य कला मंच का वार्षिक समारोह : मुरारी शर्मा

94 किन्नौर के मंदिर : हिम कुमार चटर्जी

96 आवरण के चित्र

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें सम्पादकीय सहमति आवश्यक नहीं। सं०

पाठकीय

गौतम सान्याल (पश्चिम बंगाल)

लम्बे समय के बाद विपाशा के दो अंक (34/35) मिले। अच्छे लगे। इससे दो वर्ष पूर्व विपाशा पढ़ने को मिली थी। इसकी वर्ण-वैचित्र्यमय चित्र कल्पनात्मक साज-सज्जा ने मुझे तब भी आकर्षित किया था और अब भी।

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा प्रकाशित यह पत्रिका साहित्य व सौंदर्य से परिपूर्ण है। आज जहाँ एक तरफ पश्चिमी सभ्यता ने हमारे साहित्य और पौराणिक संस्कृति को पछाड़ दिया है, इस बीच आपकी 'विपाशा' अँधेरी गलियों में भटकती संस्कृति और साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए सूर्य की किरण साबित होगी, ऐसी उम्मीद है।

कुशल करण, जोधपुर (राजस्थान)

'एशिया बुक कम्पनी' में सौभाग्य से विपाशा जुलाई-अगस्त 1990 का अंक मिला। मूल्य मात्र दो रुपये। ऐसी साहित्यिक पत्रिका के आजकल दर्शन दुर्लभ हैं। जैसे 'समाज सत्य का मर्म' में कवि श्री शमशेर बहादुर सिंह की पंक्ति है—"मुझको मिलते हैं अदीब और कलाकर बहुत/लेकिन इन्सान के दर्शन हैं मुहाल।" बहुत खूब... और फिर साक्षात्कार भी हिन्दी साहित्य के महारथी कवि श्री शमशेर बहादुर सिंह से ही सरस संवाद शैली में, स्मरण लेख श्री नारायण चतुर्वेदी की स्मृति में। आशा है भविष्य में 'विपाशा' इसी तरह पाठकों की ज्ञान पिपासा तृप्त करती रहेगी।

संजय कुमार 'पंकज' (बिहार)

विपाशा का 37 वां अंक पढ़ने को मिला। अच्छा लगा। यह पत्रिका हिन्दी पत्रिकाओं के बीच विदेशी सौंदर्य (छपाई-सफाई) की झलक देती है। आवरण कलात्मक, सौंदर्यवान एवं सादगीयुक्त है। सामग्री का चयन, संकलन एवं संयोजन कुशल संपादन का परिचय देते हैं। किन्तु कई जगह प्रूफ की ग़लती आनंद को भंग अवश्य कर देती है। खैर . . . .

जहाँ तक मेरा विचार है इस हिन्दी पत्रिका का व्यापक प्रचार-प्रसार होना चाहिए ताकि इस साहित्यिक पत्रिका के माध्यम से अधिक से अधिक लोग साहित्य से लाभान्वित हो सकें। यदि मैं यह कहूं कि हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा प्रकाशित की जा रही यह पत्रिका एक महत्वपूर्ण कार्य है तो यकीनन अनुचित न होगा। यूँ तो बिहार सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा भी 'राजभाषा' नामक पत्रिका का शानदार प्रकाशन

होता है जिसका स्वरूप भी पूर्ण एवं साहित्यिक है, फिर भी 'विपाशा' में कुछ अतिरिक्त विशेषताएँ हैं जो 'राजभाषा' से उसे सर्वथा अलग स्थापित करती हैं।

सरकारी पत्रिका यदि ईमानदार रचना को प्रस्तुत करती है तो यह एक सराहनीय कार्य है और इस दृष्टि से विपाशा के लगभग हर अंक में साहित्यिक ईमानदारी बची रहती है, जिसे स्पष्टतः देखा जा सकता है। सब पत्रिकाओं के बीच 'साक्षात्कार', 'पूर्वग्रह', 'मधुमती' आदि की तरह विपाशा भी अलग से पहचानी जाती है। हर रचनाकार को प्रभावित करती है, चाहे वह जिस वाद, जिस मंच, जिस संघ से संबद्ध हो। उम्मीद है भविष्य में भी इसी प्रकार की मिली-जुली साहित्यिक रचनाएँ देखने-पढ़ने को मिलेंगी।

नरेश शर्मा, शिमला

हिमाचल प्रदेश के सृजनात्मक लेखन को शायद विपाशा के माध्यम से अधिक करीब से देखा जा सकता है। पत्रिका के अंक 36 का विचारमयी मुद्राओं से घिरा आवरण काफी अच्छा बन पड़ा है।

रघुवीर सहाय का परिचय और उनकी कविताएँ साहित्य प्रेमियों के लिए उपहार हैं। सहाय जी की लिखी कविताओं को पढ़ कर ही पता चलता है कि वे ज़िन्दगी के एक ही रूप को कितने कोणों से देखते थे।—"हाथ बालों पर नहीं जिनके कभी फेरा गया/ बैठकर दो चार के संग/ तजुर्बे अपने सुनाने का नहीं मौका मिला / ... तथा—"कई कोठरियाँ थीं कतार में/ उनमें किसी में एक औरत ले जाई गई/ थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया/ उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा। उसके बचपन से जवानी की कथा।" इन कविताओं में उन्होंने औरत को लेकर विचार व्यक्त किए हैं। पारख जी के शब्दों में—'कोठरी शब्द स्त्रियों के जीवन के अँधेरे को ही व्यक्त नहीं करता अपितु उस गुलामी को भी व्यक्त करता है जिससे उनका पूरा जीवन बंधा हुआ है।... नारी जीवन के विविध रूपों के माध्यम से सहाय जी ने स्त्री जाति के त्रासद परंतु करुण बिम्ब प्रस्तुत किए हैं जो पाठकगण को मात्र उद्वेलित ही नहीं करते अपितु उनकी चेतना को गहरे रूप में झन्झकोरते भी हैं।"

इस अंक में छपी राजी सेठ की 'तदुपरान्त' और नरेश पंडित की 'बूढ़ा पीपल' कहानियाँ काफी रोचक और ज्ञानवर्धक जान पड़ती हैं। प्रवेश के अन्तर्गत हेमन्त अगोछिया की 'अपना एकांत' पढ़ते-पढ़ते पाठक खुद को एकांत में बैठा महसूस करता है। रीना से हकीकत बता कर भी शायद वर्मा जी के मन का एकांत टूट न पाया।

राहुल सांकृत्यायन का 'पाहुन' के अन्तर्गत 'किन्नर देश पर ऐतिहासिक दृष्टि' लेख काफी ज्ञानप्रद लगा। हिम चटर्जी के रेखांकन मात्र किन्नौर के मन्दिरों तक ही सीमित होकर रह गए हैं यदि इसी प्रकार अन्य ज़िलों के मन्दिरों/ऐतिहासिक स्थलों के बारे भी जानकारी मिले तो शायद अधिक अच्छा होगा। खैर . . .. इस दिशा में यह एक अच्छा प्रयास है और उम्मीद है कि आगामी अंक और भी आकर्षक एवं ज्ञानवर्धक होंगे।

संपादकीय

ज़िंदगी का अहसास और रचना की तीव्रता

हिन्दी साहित्य में मोहन राकेश की अपनी जगह है। कहानी और नाटक इन दोनों विधाओं को उन्होंने जो सृजनात्मक आयाम दिये हैं वे महत्वपूर्ण हैं। नयी कहानी आंदोलन के प्रवर्तकों में मोहन राकेश का नाम सम्मान से लिया जाता है। यह आंदोलन मात्र आंदोलन के लिए नहीं रहा बल्कि इसने हिन्दी कहानी को वह मजबूती व समृद्धि प्रदान की, जिसकी वजह से अन्य विधाओं के बीच कहानी एक केन्द्रीय विधा के रूप में उभर कर सामने आ सकी।

मोहन राकेश ने स्वयं लिखा है कि एक कहानीकार को अपने समय के यथार्थ की विविधता के अंतर्गत रूपान्विति का परिचय देना होता है। जीवन को एक इकाई के रूप में ग्रहण करने वाला लेखक, उसे गाँव-कस्बा-नगर आदि प्रकोष्ठों में बाँटकर नहीं देखता। जीवन एक सामूहिक इकाई है, और जो शक्तियाँ उसे बनाने या बिगाड़ने में कारण बन रही हैं, उन्हें किसी एक या दूसरे प्रकोष्ठ में बंद कर के नहीं देखा जा सकता। यथार्थ की पकड़ का अर्थ एक खंड के बाहरी रूप का वर्णन करने की क्षमता नहीं है। जीवन के यथार्थ पर लेखक के अधिकार का अर्थ है—जीवन के सभी खंडों को समान या न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करने वाली शक्तियों की पकड़। आज की कहानी ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा लेखक जीवन के विविध खंडों के अन्तर्गत इन शक्तियों के प्रभाव को सफलता पूर्वक व्यक्त कर रहे हैं।

मोहन राकेश ने लेखन और चिंतन दोनों स्तरों पर नयी कहानी को दिशा दी। भारतीय जीवन के सामाजिक यथार्थ की भूमि को लेकर उसके अन्तर्गत सांकेतिक प्रभावान्विति के निर्वाह को उन्होंने नयी कहानी की विशेषता माना तथा निर्वैयक्तिक दृष्टि को इसकी उपलब्धि। अपने समय के सत्यों का साक्षात्कार कराती उनकी कहानियाँ जीवन के गहरे अनुभवों की कहानियाँ हैं, जिनके साथ पाठक जगत् बराबर जुड़ा हुआ है।

नाटक लेखन के क्षेत्र में मोहन राकेश ने और भी अधिक ख्याति अर्जित की है। अपने समय में वह ऐसे अकेले हिन्दी नाटककार दिखाई देते हैं जो रंगतंत्र की गहरी समझ के साथ अपने कथ्य को प्रभावी अभिव्यक्ति देने में पूर्णतया सफल हुए हैं। रंगतंत्र की पहचान और नाट्य लेखन के बीच उनके द्वारा स्थापित गहन और सार्थक सम्बन्ध के साथ ही हिन्दी रंगमंच को स्पष्ट दिशा मिल सकी है। इससे पूर्व नाटक निर्देशक और लेखक के बीच जो प्रधानता का द्वन्द्व चल रहा था उसे भी इस संवाद से किनारा मिल सका।

रूसी नाटककार व निर्देशक आरबु ज़ोफ से बात करते हुए मोहन राकेश ने कहा था कि नाटककार और निर्देशक में नाटककार इसलिए प्रमुख है कि वह शब्द और ध्वनि के माध्यम से नाटक व रंगमंच का बीज तैयार करता है, जिस पर रंगमंच का पूरा ढांचा खड़ा होता है। रंगमंच के लिए बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नाटक के

भीतरी तत्वों का विकास ज़रूरी है और वह भाषा के माध्यम से संभव है—शब्द, ध्वनि, संकेत और हरकत की भाषा से।

मोहन राकेश ने अपने नाटकों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थितियों और मानव मन की संश्लिष्टताओं को अभिव्यक्ति देते हुए रंगमंच सम्बन्धी जो गम्भीर चिंतन किया है उससे एक तरह की समग्र और समृद्ध रंग चेतना का सृजन होता है। जीवन और परिवेश से रंगमंच की खोज की उनकी अवधारणा भी इसी रंग चेतना में निहित है। उनके नाटकों के मंचन का सिलसिला निरंतर जारी है, यह उनके प्रभाव और प्रासंगिकता का ही प्रमाण है।

मोहन राकेश के उपन्यास स्त्री-पुरूष सम्बन्धों की जटिलताओं से जूझते हैं। यह मनुष्य का वह भीतरी संसार है, जहाँ अंधेरा, घुटन और भटकाव है। इसके अतिरिक्त मोहन राकेश ने यात्रा-संस्मरण और डायरी लेखन के माध्यम से भी हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

'मोहन राकेश का साहित्य' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में डॉ. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने लिखा है कि मोहन राकेश ने ज़िंदगी को बहुत नज़दीक से देखा था। एक ऐसी ज़िदगी जीने की कोशिश की थी, जो उनके अपने आदर्शों, मूल्यों और मानों के अनुरूप थी। उनके ठहाके, भरी महफिल में गरमागरम बहसें, व्यवस्था तंत्र के विरुद्ध वाक्-आउटस या इस्तीफे अथवा लड़ाकू मुद्राएँ—ये सभी मोहन राकेश की ज़िंदगी के विविध पहलू थे और इन सबके मेल से ही उनकी मुकम्मल तस्वीर बनती थी। सच तो यह है कि मोहन राकेश ने अपनी ज़िंदगी को साहित्य से अलग नहीं रखा था—ज़िंदगी के अनुभव का सूत्र रचना तक आता था और रचना ज़िंदगी के अहसास को और तीव्र करती थी। यही कारण है कि प्रामाणिक अनुभूति से प्रतिस्पन्दित उनकी रचनाएँ अधिक प्राणवान बनती गयीं।

इस अंक की 'निधि' में मोहन राकेश के कृतित्व पर एक लेख के साथ, उनकी एक कहानी तथा डायरी के अंश दिये गये हैं।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि त्रिलोचन के गीतों पर डॉ. रेवती रमण का लेख भी इस अंक में जा रहा है। सिंगर की एक अच्छी अनूदित कहानी पाठकों को पसंद आएगी।

कविता, कहानी, समीक्षा जैसी नियमित सामग्री के साथ मंडी के चित्रकारों पर भी एक परिचयात्मक लेख दिया गया है।

निधि

मानवीय धरातल का रचनाकार : मोहन राकेश

❑ डॉ. वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता

मोहन राकेश के व्यक्तित्व का उनकी रचनाशीलता से गहरा सम्बन्ध है। उनके व्यक्तित्व को स्वरूप देने वाले दबावों तथा तनावों को समझे बिना उनके साहित्य की सही पहचान नहीं की जा सकती। कहा गया है कि निराला के बाद हिन्दी साहित्य में जिस आदमी के चारों ओर सबसे अधिक 'मिथ' बुनी गई, वह थे मोहन राकेश। उनके व्यक्तित्व में अनेक अन्तर्विरोधों को आंका गया तथा कई तरह के आरोप भी लगाये गये। मोहन राकेश ने अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के एक पात्र कालिदास पर लगाए गए आरोपों का जो उत्तर दिया है, सही मायने में उन पर लगाए गए आरोपों का भी वही उत्तर है। उत्तर देते हुए उनका यह कथन कि 'मानवीय धरातल पर रहकर ही जीवन में कुछ महान् किया जा सकता है।' —एक ऐसा सूत्र है जिससे मोहन राकेश के व्यक्तित्व की पूरी पहचान की जा सकती है। सच तो यह है कि मानवीय धरातल पर जीकर ही मोहन राकेश ने इतने कम समय में इतनी अधिक प्रतिष्ठा पायी। उनके व्यक्तित्व सम्बन्धी सभी मतों को यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो सम्भवतः उन्हें समझना आसान होगा। असलियत यह है कि बदलती स्थितियों परिस्थितियों में मोहन राकेश ने अनेक दबावों-तनावों को एक तीव्रता के साथ जिया, जिससे उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलू उजागर हो गए। मोहन राकेश क्योंकि एक गतिशील जीवंत व्यक्तित्व वाले इन्सान थे, इसलिए उनमें अन्तर्विरोध भी थे, एक संवेदनशील प्राणी थे इसलिए उनमें निरन्तर स्वीकार-अस्वीकार का द्वन्द्व भी चलता रहता, स्वाधीनता के बाद की परिवर्तनशीलता को सीधे झेल रहे थे, इसलिए उनके व्यक्तित्व में जटिलता का आना स्वाभाविक था।

अपनी पूरी ज़िन्दगी में मोहन राकेश ने कोई घटिया काम किया ही न होगा, यह भी मैं मानने को तैयार नहीं। किन्तु निम्नतर तथा जटिलतम स्थितियों का अतिक्रमण करते हुए मानवीय धरातल को बनाए रखना तथा साहित्य-सर्जन की अपनी प्रतिबद्धता को निभा पाना मामूली बात न थी। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मोहन राकेश सामान्य मानवीय दुर्बलताओं तथा क्षमताओं को लिये हुए एक सामान्य मनुष्य थे। फर्क सिर्फ इतना था कि लेखन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता हर विकट परिस्थिति में उन्हें उबारती रही। जिन स्थितियों के दबावों में सामान्य इंसान दबकर रह जाता, मोहन राकेश उससे ऊपर उठे और अपनी सृजनशील प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपने लिए नयी राहों की तलाश की। वास्तविकता यह है कि साहित्य-सर्जन की यही प्रक्रिया है, जीवन-मंथन में से निकले विष को पीना और बदले में साहित्य गंगा की धारा देना।

मोहन राकेश ने स्वयं अपने सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है और उनके समकालीन मित्रों ने भी उनके सम्बन्ध में कम नहीं लिखा। इसलिए उनके व्यक्तित्व के रोयें-रेशे की एक पूरी पहचान संभव है। इतने नजदीक से इस

साहित्यकार को अनेक लोगों ने देखा है कि कई बार इनसे जुड़े अनेक अन्तर्विरोधों, विसंगतियों, मानसिक द्वन्द्वों का उनके साहित्य के साथ सम्बन्ध बैठाना कठिन भी लगता है। वस्तुतः किसी भी साहित्यकार की सही पहचान के लिए अनजाने ही मन में बनी 'साहित्यकार' की उस काल्पनिक भव्य मूर्ति को तोड़ना जरुरी है जिसके आगे बरसों से हम माथा झुकाते चले आ रहे हैं। जबकि सच्चाई यह है कि मानवीय धरातल पर साहित्यकार के जीवन की समस्त विसंगतियों तथा अन्तर्विरोधों को जानकर ही उसकी रचनाशीलता की सही पहचान संभव है।

मोहन राकेश का असल नाम मदन मोहन गुगलानी था। पिता, पेशे से वकील होते हुए भी साहित्य में रुचि लेने वाले थे। इनके घर में साहित्य-गोष्ठियां जमतीं और अनेक साहित्यकारों का आना-जाना बना रहता। मोहन राकेश अभी सोलह वर्ष के ही थे कि पिता का देहान्त हो गया। मकान मालिक ने कहा जब तक पिछला किराया नहीं चुकाया जाएगा, मुर्दा नहीं उठाने देगा। मां की चूड़ियां बेचकर किराया चुकाया गया। इस स्थिति के बाद का राकेश का यह संस्मरण उसके व्यक्तित्व को समझने में सहायक होगा।

"ज़र्द चेहरे का दुबला-सा लड़का। मां, हमेशा की मां से बदली हुई, उसके सामने खड़ी थी। बाल खुले थे। सिर पर कपड़ा नहीं था। घर में बन्द रहने से पैदा हुआ हमेशा का झुका-झुका भाव भी नहीं था। शव-दाह के बाद दोनों श्मशान से लौटकर आए थे।"

'तू अब से मेरी रखवाली करेगा?' लड़का सकपका गया। कुछ कह नहीं पाया। मां का भाव कठोर हो गया। उसने लड़के की कलाई अपने हाथ में ले ली।

'नहीं करेगा?'

लडके ने एक बार कांप कर सिर हिला दिया।

'करुंगा।'

'भाई-बहन की पालना करेगा?'

लड़का सोचने लगा। बहन उससे डेढ़ साल बड़ी है। उसकी पालना वह किस तरह करेगा?

'नहीं करेगा?'

'करुंगा।'

मां पल भर उसी तरह उसकी कलाई पकड़े रही फिर उसे छाती से लगाकर रोने लगी।

मुझे लगता है इस घटना ने मोहन राकेश पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ा। लेखन से भी ज़्यादा यदि किसी को महत्व दिया, वह थी उनकी मां। पिता के देहान्त के बाद जिस मानसिकता में मां ने आश्रय देने की बात कही थी, वह संवेदनशील मोहन राकेश के मन पर छप गई। इसके बाद के सभी फैसलों में एक महत्वपूर्ण घटक 'मां' का भी रहा। भले ही मां ने उन्हें बांधा नहीं और मुक्त रखा, हर फैसला करने की पूरी स्वतन्त्रता दी किन्तु अन्तर्मन में वे अपनी मां की सुख-सुविधाओं को प्राथमिकता देते रहे। उनके घर में वही रह सकता था जो उनकी मां को उन्हीं की तरह इज्जत दे सके। सिर्फ इतना ही नहीं जो वैसा नहीं कर पाएगा, उसके साथ मोहन राकेश का निर्वाह सम्भव नहीं—चाहे वह मित्र हो, निकट सम्बन्धी हो या पत्नी।

मोहन राकेश ने लाहौर के ओरिएंटल कॉलेज में शास्त्री की उपाधि ली। संस्कृत की एम. ए. करने के पश्चात् मदन मोहन गुगलानी ने सबसे पहले फिल्मों के लिए कहानी लिखने का काम हाथ में लिया। बहुत शीघ्र पता चल गया कि यह काम उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसलिए बम्बई में ही लेक्चररशिप कर ली। परन्तु चश्मे का नम्बर अधिक होने के कारण वहां नौकरी पक्की न हो सकी। जालन्धर जाकर एम. ए. हिन्दी प्रथम श्रेणी में की। बाद में जालन्धर के डी. ए. वी. कॉलेज में ही प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हुई। छह महीने के बाद ही बिना कन्फर्म किए नौकरी से हटा दिया गया क्योंकि राकेश ने यहां टीचर्स यूनियन की गतिविधियों

में सक्रिय भाग लिया और अधिकारियों की दमन नीति का बराबर विरोध किया। कुछ समय के लिए बेकारी के आतंक को झेलने के बाद शिमला के एक मिशनरी स्कूल में नौकरी मिल गयी। किन्तु शिमला की इस नौकरी के यांत्रिक सतही जीवन से मोहन राकेश बहुत शीघ्र ही उकता गए। यहां किसी तरह कुछ वर्ष काटकर सन् 1952 में यहां से त्याग पत्र दिया। शिमला छोड़ने के पश्चात् मोहन राकेश दक्षिण की यात्रा के लिए निकल पड़े और इन्होंने लौटकर 'आखिरी चट्टान तक' यात्रा-विवरण की पुस्तक प्रकाशित की। यात्रा से लौटने के बाद जालन्धर के उसी कॉलेज से विभागाध्यक्ष के पद के लिए इनकी नियुक्ति की गई। नौकरी का यह काल सन् 1957 तक चला। इस बार भी इस्तीफा देते समय इरादा किया कि फिर कभी नौकरी नहीं करनी। किन्तु आर्थिक कारणों से सन् 1960 में दिल्ली विश्वविद्यालय में लेक्चररशिप ले ली और शीघ्र ही उसे छोड़ भी दिया। सन् 1962 में 'सारिका' के सम्पादन के लिए बम्बई गये। बिल्कुल नया अनुभव था यह। सुख-सुविधा के सभी साधन थे। किन्तु राकेश यहां भी अधिक समय के लिए टिक न सके। 'सारिका' की नौकरी छोड़ने के पश्चात् अपने स्वतंत्र लेखक के सपने को साकार करने में इन्हें सफलता प्राप्त हुई। मोहन राकेश ने अनेक कठिनाइयों में से गुजरने के बावजूद कोई नौकरी नहीं की। इन्होंने स्वतन्त्र लेखन की एक छोटी-सी पगडंडी बनाई जिस पर बाद के अनेक लेखक भी चले।

मोहन राकेश ने जब भी महसूस किया कि अमुक नौकरी उनके लेखन में बाधा है, उन्होंने त्यागपत्र देने में तनिक भी देर नहीं लगायी। अपने लेखन को इस सीमा तक प्राथमिकता दी कि उसके लिए बड़े से बड़ा नुकसान झेलने को तैयार रहे। पहली पत्नी शीला के साथ वैवाहिक जीवन ठीक से न चल पाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि वह राकेश के लेखन को बहुत महत्व नहीं देती थी।

शीला के साथ सम्बन्ध-विच्छेद किन्तु उसकी कोख से जन्मे अपने बेटे के साथ बेहद लगाव ··· और उस लगाव के लिए वह कुछ भी करने के लिए तैयार। इसी तरह के अनेक अन्तर्विरोधों को उनके एक मित्र ने गिनाया है: "राकेश अपने दोस्तों के लिए जीते हैं, राकेश बहुत आत्म-केन्द्रित हैं, उनकी दोस्तियां निभती हैं तो दूसरों की वजह से, वे तो एक कदम भी साथ न चल सकें—राकेश को एक घर की तलाश है जहां कोई सही मायने में उनका अपना हो, जहां उन्हें सकून मिल सके, राकेश वोहिमियन वृत्ति के इन्सान हैं, उन्हें कनॉट प्लेस के गलियारे, काफी हाऊस की मेज-कुर्सियां, रेलवे स्टेशन की बेंचें तथा शिमला-सिरीनगर की पहाड़ियां अधिक भाती हैं, वह कहीं टिक नहीं सकते, किसी के हो नहीं सकते—राकेश को घटियापन बर्दाश्त नहीं, न दूसरों का न अपना, राकेश बहुत घटिया इंसान हैं, वो जेल की तरह दूसरों के व्यक्तित्व को चूस लेते हैं, उसे खोखला कर लेते हैं, फिर बड़ी बेबाकी से पल्ला छुड़ा जाते हैं, बदले में कुछ देना वे नहीं जानते।"[1] इन विसंगतियों एवं अन्तर्विरोधों के बीच मोहन राकेश का जीवंत और गतिशील व्यक्तित्व झांकता है। इन विरोधों की व्याख्या एक अन्य मित्र ने और खूबसूरती से दी है : 'विचित्र विराधों को अपने स्वभाव में लिये हुए है यह आदमी। नदी का-सा व्यक्तित्व है इसका। निरन्तर चलते रहकर भी अपने स्थान पर बने रहना, अपने स्थान पर बने रहकर भी निरन्तर चलते रहना।'[2] नदी का यह रूपक मोहन राकेश के अन्तर्विरोधों को सझमने में बहुत सहायक सिद्ध होता है। ज़िन्दगी को अपनी शर्तों पर भरपूर जीने की आकांक्षा ने राकेश की जीवनधारा को अनेक मोड़ भी दिए, कई स्थानों पर यह नदी किनारों को काटती हुई आगे बढ़ गई—परन्तु खूबी इस नदी की यह है कि गतिशील होते हुए भी स्थिरः तनावों तथा दबावों से निरन्तर बनता मिटता राकेश का व्यक्तित्व समय के साथ अनेक अन्तर्विरोधों को जीता हुआ भी अपनी सृजनशीलता के धरातल पर सदा कायम है। अनेक नौकरियां बदलीं, पारिवारिक स्थितियां बदलीं किन्तु लेखन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता कम नहीं हुई। स्वभावगत अपने बिखराव के प्रति मोहन राकेश सचेत थे किन्तु यह भी जानते थे कि इन्हें समेटने के लिए धैर्य और आयास

की आवश्यकता होती है। इसीलिए लगता है कि उनमें प्रवृत्ति जन्य विविधता के प्रति एक आकर्षण था जिसके फलस्वरूप उनके जीवन में अस्थिरता आई और वे बहुत भटके। किन्तु लेखन की प्रतिबद्धता के कारण एकनिष्ठता भी राकेश में सदा बनी रही। विविधता की उपासना ने जहां मोहन राकेश के अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत किया वहां लेखन के प्रति एकनिष्ठता ने उनकी कला को तराश दी। विविधता और एकनिष्ठता के सामंजस्य ने ही मोहन राकेश की कला को रूप दिया।

विविधता के आकर्षण ने ही उन्हें यायावर बना दिया। एक स्थान पर टिककर रहना उनके लिए सम्भव ही नहीं था। शिमला के मिशनरी स्कूल से मुक्त होकर उन्होंने यात्रा करने का ही निर्णय लिया। इसी यायावरी वृत्ति ने एक रचनात्मक अभिव्यक्ति पायी। केवल इतना ही नहीं, जिन्दगी के लिए भी जैसे एक नयी समझ मिली। 'यात्रा के रोमांस' निबन्ध में यायावर के सम्बन्ध में मोहन राकेश का यह कथन उनके व्यक्तित्व की पहचान में सहायक होगा: 'यात्रा यायावर को जो तटस्थ दृष्टि देती है, वह रोज के द्वन्द्वपूर्ण जीवन में रहकर प्राप्त नहीं होती। अपने जीवन के निकट वातावरण से हटकर, निजी परिस्थितियों के दबाव से मुक्त होकर, मन में कोई कुण्ठा नहीं रहती—नये वातावरण, नयी परिस्थितियों और नये व्यक्तियों के साथ अधिक स्वस्थ और स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है—ऐसे में व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रकृति के अनुकूल होकर जी सकता है—अधिक उन्मुक्त भाव से अपने को नये अनुभव के बीच खुला छोड़ सकता है। उस खुलेपन से उसके मानदण्ड बदल जाते हैं—वह एक आरोपित नैतिकता न जीकर अपनी आन्तरिक नैतिकता के अनुसार जीने लगता है।'

इस तरह तटस्थ दृष्टि से परिवेश की पहचान करते हुए निर्कुठत होकर उन्मुक्त भाव में अपनी आन्तरिक नैतिकता के अनुरूप जीना ही मोहन राकेश को प्रिय था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन को तटस्थ दृष्टि तथा साहित्य में यथार्थ की पहचान के लक्ष्य को मोहन राकेश ने सदा अपने सामने रखा। पढ़ाते हुए यथार्थवाद उनका सबसे प्रिय विषय था। उनके एक छात्र ने बताया कि साल भर एक ही निबन्ध पढ़ाया करते थे 'हिन्दु साहित्य में यथार्थवाद'—और प्रत्येक बार यथार्थ की पहचान के लिए नये बिन्दु उनके पास होते, कभी अपने आपको दोहराया नहीं, प्रत्येक भाषण में नवीनता, मौलिकता और ताज़गी।

राकेश की हंसी का जिक्र किए बिना उनके व्यक्तित्व की पहचान अधूरी रह जाएगी। राकेश जब ठहाका लगाकर हंसते थे, यह प्रश्न तब भी मन में बार-बार आता—इनके ठहाके कितने सच्चे, कितने बनावटी और कितने झुठे हैं। सच्चे मन से इतने ठहाके लगाने वाला व्यक्ति अचानक हृदय-गति रुक जाने से मर नहीं जाया करता। वासु भट्टाचार्य का कहना है कि उनके ठहाके के पीछे वास्तव में एक और ही व्यक्ति छिपा रहता है। वह व्यक्ति बहुत गम्भीर है और अपने अन्दर की यंत्रणा से पीड़ित रात-दिन उसमें छटपटाता है। वही व्यक्ति लेखक राकेश है।[3] ठहाके वाली हंसी उसकी ओढ़ी हुई हंसी थी। जैसे किसी अन्तर्वेदना को छिपाने के लिए वह ठहाकों द्वारा अपने मित्रों से बचकर निकल जाना चाहता हो। 'राकेश की वास्तविक हंसी इससे बिलकुल अलग है—वह शब्दहीन हंसी है। होंठों से उस हंसी का कोई सम्बन्ध नहीं। उसके दांत उस हंसी में बाहर नज़र नहीं आते। जब वह ऐसी हंसी हंसता है, तो कभी-कभी उसकी आंखों में एक चमक आ जाती है।'[4]

उसकी आँखों की इस चमक को बहुत कम लोगों ने पहचाना। सृजन-संघर्ष तथा रचनात्मक उपलब्धि के समय ही उनकी आंखों में इस प्रकार की चमक आती थी। भले ही लिखना उनकी पहली कमिटमेंट थी पर लिखना उनके लिए बहुत आसान काम नहीं था। रचना को वांछित रूप देने के लिए उन्हें बहुत प्रयत्न करना पड़ता था। प्रत्येक रचना को बार-बार लिखते और जब तक वांछित रूप न दे पाते, छपने के लिए नहीं भेजते थे। लिखते हुए इतनी तकलीफ कि कई बार यही सवाल सामने आ जाता कि आखिर मैं लिखता क्यों हूं? सिर्फ लेखन के सम्बन्ध में ही नहीं, अपने सम्बन्ध में भी ये सवाल बार-बार सामने आए—

मैं क्या हूं? मैं क्यों हूं?? मैं कहां हूं???

हर सवाल के जवाब में एक नया सवाल उनके सामने आ खड़ा होता। सृजनशील बेचैनी या अस्थिरता के कारण एक के बाद एक नौकरियां बदलने की स्थिति हो या दो बार घर बसाने की नाकामयाब कोशिश—हर बार यही सवाल सामने आते। शायद इसीलिए मोहन राकेश के नाटकों तथा उपन्यासों के प्रमुख पात्र 'अपने व्यक्तित्व में उलझे अपने व्यक्तित्व की ही खोज कर रहे हैं, ताकि वे उसे पाकर उसका नितान्त स्वेच्छित विनिर्माण, बल्कि पुनर्निर्माण कर सके।'[5] 'आषाढ़ का एक दिन' का 'कालिदास', 'लहरों के राजहंस' के नन्द तथा 'अन्धेरे बन्द कमरे' के मधुसूदन की यही खोज है। जीवन में अपनी परिस्थितियों से टकराते हुए वे असल में अपने व्यक्तित्व को ही खोज रहे थे।

खोज व्यक्तित्व की है या उन परिस्थितियों की जिनमें ये व्यक्तित्व विकसित हो सकें ऐसी परिस्थितियों को रूप देने के लिए ही मोहन राकेश ने सन् 1950 में घर बसाने का निर्णय लिया। जिस पहली लड़की के साथ पत्र-व्यवहार हुआ, उसी से शादी कर ली। भावुकतापूर्ण पत्रों से प्रभावित होकर मोहन राकेश ने शादी का फैसला किया था। पत्रों की भावभीनी भाषा तथा साहित्यिकता से प्रभावित होकर ही उसने एक घर का सपना देखा। किन्तु ठीक विवाह के पश्चात जब उन्हें पता चला कि ये पत्र किसी उपन्यास से नकल करके लिखे गए थे, मोहन राकेश के आत्मीय सम्बन्धों वाले घर का सपना भर-भरा कर ढह गया। इसके इलावा परस्पर पत्र-व्यवहार से विवाह के स्वरूप के सम्बन्ध में किए गए फैसले का भी पालन नहीं हुआ। उससे बहुत शीघ्र ही मन में एक ग्रंथि सी बन गयी। इसके इलावा पहली पत्नी शीला मोहन राकेश के लेखन को महत्व नहीं दे पायी। सन् 50 में सामाजिक जीवन में लेखक का कोई स्थान था भी नहीं। जितनी स्पष्टता के साथ अनीता को कह सके ....'पहले नम्बर पर मेरा लेखन, दूसरे नम्बर पर मेरे दोस्त हैं और तीसरे नम्बर पर तुम हो लेकिन तीनों ही मेरे लिए बहुत जरुरी हैं।' क्या उतनी स्पष्टता के साथ सन् 50 में शीला से यह बात कह सकते थे, मुझे संदेह है किन्तु जिस बात की उन्हें सबसे अधिक तकलीफ हुआ करती थी, वह था शीला का मां के प्रति व्यवहार। शीला आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी थी। इस कारण राकेश जिस आत्मीय सम्बन्धों वाले घर की कल्पना कर रहे थे, वह शीला के साथ रहते हुए संभव नहीं था। अर्से तक शीला के साथ रहने के पश्चात उन्हें लगा कि अपनी रुचि और प्रवृत्तियों के अनुरूप जीना संभव नहीं होगा। जबकि उनके लिए 'प्रवृत्ति से तिरस्कार का अर्थ है मृत्यु'—और सचमुच जब उन्हें लगा कि परस्पर आकर्षण के बिना शीला के साथ यह सम्बन्ध ढोते चले जाना निरर्थक है—उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद का निर्णय लिया।

दूसरी बार शीला से उलटी प्रकृति वाली लड़की से शादी करने का फैसला किया। घर और विवाह दोनों ही मोहन राकेश की जरुरतें थीं। एक ऐसी संकोचशील लड़की से शादी करने की बात सोची जो समर्पण भाव से उनके आश्रय को स्वीकार करेगी। किन्तु यह फैसला भी ग़लत हो गया। क्योंकि वह मानसिक दृष्टि से रोगी थी। उसके साथ रहना असंभव था। 'एक और जिन्दगी' कहानी इसी मानसिकता की रचना है। इससे पहली पत्नी से विच्छेद के पश्चात की औपचारिकता किन्तु अपने बेटे से अद्भुत लगाव और साथ ही दूसरी पत्नी के मानसिक विकार के झेलने की तकलीफ है। इन तीनों मानसिकताओं को एक साथ रखकर ही मोहन रोकश ने 'एक और ज़िन्दगी' कहानी को रूप दिया है। इस सारे तल्ख अनुभव के बावजूद मोहन राकेश में भरपूर जीने की चाह थी। अपनी दूसरी पत्नी पुष्पा से कैसे छुटकारा पाएंगे, इसके सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हुए बिना ही अनीता औलक के साथ रहने की योज़ना बना ली।

असल मायने में बिलकुल एक और जिन्दगी जीने के इरादे से ही सन् 1962 में मोहन राकेश दिल्ली छोड़कर बम्बई गये। अभी तक कभी अध्यापन के साथ लेखन को चला रहे थे या कभी पढ़ाने की नौकरी छोड़कर स्वतंत्र

लेखन में भी प्रवृत्त होते। किन्तु इस बार बम्बई में जाकर सम्पादन के कार्य को हाथ में लिया और 'सारिका' को संवारने में जुट गए। एयर कण्डीशन्ड दफ्तर, कार तथा अन्य सुख-सुविधाओं के साधन। पर यह नौकरी भी मुश्किल से साल भर चली।

बम्बई में झेला अकेलापन और दिल्ली लौटने पर अनीता औलक से परिचय हुआ। जुलाई 1963 में कमलेश्वर और अम्मा के सामने अनीता के साथ शादी कर एक बार फिर से घर बसाने की कोशिश की। अनीता से कहे राकेश के ये शब्द इस बात की गवाही देते हैं कि आत्मीय सम्बन्धों वाले घर की उन्हें कितनी शिद्दत से चाह थी:

'मुझे घर चाहिए ··· अन्ना, 'घर' मुझे जिन्दगी में और सब कुछ मिला ··· सिर्फ एक घर ही नहीं मिला। मैं कहां-कहां इसके लिए नहीं भटका ··· क्या-क्या इसके लिए नहीं किया ··· लेकिन पता नहीं क्यों 'घर' नाम की चीज मुझसे हमेशा रुसवा रही। दो बार मैंने इसे पाने का विश्वास अपने में भरा और दोनों ही बार मुझे खुद ही इससे भाग जाना पड़ा। मैं नहीं जानता कि मुझे ही 'घर' से एलर्जी है या कि घर को ही मुझसे एलर्जी। क्या तुम मेरे लिए ऐसा घर बना सकोगी जो मेरे सिर्फ मेरे अनुकूल ही हो? ··· मैं एक बहुत ही दुःखी आदमी हूं , अन्ना ··· एक बहुत ही थका हुआ हूं। मैं चाहता हूं कि मुझे अब तुम सम्भाल लो ··· मुझे और मेरे घर को ·· "[6] उस समय संभवतः अनीता को राकेश द्वारा घर की रट लगाना बहुत प्रिय नहीं लगा था।[7] किन्तु बहुत प्रयत्न से अनीता ने राकेश को ऐसा वातावरण दिया जिससे वे निरंतर काम कर सकें। अनीता के साथ विवाह के एकदम बाद साल भर परेशानी भी रही। असल में अनीता के रुमानी बचपने से कई बार मोहन राकेश बहुत झुंझला जाते। घंटों उसे भाषण देते कि अब वह बचकानी हरकतें छोड़कर गम्भीर स्तर पर मन को लाने की कोशिश करे। राकेश का मन होता कि मेरे मन की हर बात कहे बिना अनीता समझ जाए। वैसे ही करे। मेरे बरसों के संस्कार चार दिनों में अपने में समेट ले। अनीता भी यही चाहती और कोशिश भी करती। संभवतः इसी मानसिकता में ही अनीता ने राकेश को कहा होगा, 'क्या मैं पूरी की पूरी 'फिजिकली' तुम्हारे अन्दर नहीं समा सकती?'[8] अनीता के इस कथन में जहां एक ओर पूर्ण समर्पण का भाव था वहां साथ ही राकेश को पूरी तरह से समझ कर सुख-सुविधाएं जुटाने की आन्तरिक मनोकामना भी प्रकट होती है। सितम्बर 1963 से अगस्त 1964 तक की डायरी में अनीता के साथ घर बसाने की प्रारम्भिक तकलीफों की पर्याप्त चर्चा है किन्तु इसके बाद डायरी साहित्यिक गतिविधियों से भरपूर है। रमेश पाल, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, भीष्म साहनी, मन्नू भण्डारी, लक्ष्मीनारायण लाल, निर्मल वर्मा, रामकुमार, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना—अनेक साहित्यकार मित्रों की चर्चा है। कमलेश्वर तो सही मायने में उनका हमदम और दोस्त रहा। हर सुख-दुःख का साथी। उनकी डायरी पढ़कर यह अहसास और भी गहरा हो जाता है कि दोस्त हो तो कमलेश्वर जैसा—जो हर तकलीफ में आपके साथ है।

मोहन राकेश नियमित रूप ले डायरी लिखना चाहते थे, किन्तु अनेक बार महीनों-बरसों बीत जाते और डायरी न लिख पाते। जब कभी साहित्य-सृजन नहीं हो रहा होता, उन दिनों डायरी की ओर ध्यान अधिक जाता। डायरी में उन सभी परिस्थितियों का विवरण है जिन्होंने मोहन राकेश के व्यक्तित्व को रूप दिया। इसके साथ ही कहीं-कहीं आत्म-विश्लेषण भी बहुत स्पष्ट हुआ है। ऐसे विश्लेषण के माध्यम से राकेश के व्यक्तित्व को गहराई से जाना जा सकता है। 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' तथा 'आईने के सामने' की—आत्म-रचना में कलात्मकता लाने के लिए एक सुव्यवस्थित रचाव है। किन्तु जनवरी 1963 की डायरी में राकेश की मानसिकता का एक सच्चा चित्र प्रस्तुत होता है:

'पिछले कुछ सालों में बहुत-बहुत उलझा हूं। ज्यादातर उलझनें अपने स्वभाव की ही रही हैं। सच, कैसा

हूं मैं? कहीं रुखा, कहीं बहुत-बहुत कोमल। एक क्षण बहुत खुश, दूसरे क्षण बहुत उदास। हालात ने मन को बहुत कन्फ्यूज कर दिया है। किसी क्षण अपने पर बहुत विश्वास होता, किसी क्षण बिल्कुल भी नहीं रहता। कभी अपना आप बहुत भरा हुआ लगता है—इतना कि बरसों लिखकर भी हल्का न हो। पर थोड़ी ही देर में स्थिति बिलकुल दूसरी हो जाती है। लगता है, यह एक झूठा भ्रम है, केवल एक निराधार उत्कण्ठा। वरना अपने में कुछ है नहीं। साल पर साल गुजरते जाते हैं। उम्र बीतते-बीतते शायद बीत ही जाएगी—एक खोखले असंतोष में। कुछ समझ में नहीं आता। बहुत बार खुद ही तो कहा है—कुदरत का मजाक होते हैं कुछ लोग। योग्यता उनमें नहीं होती सिर्फ एक हलचल होती है। तत्व नहीं होता, सिर्फ आभास होता है। वह आभास ही जिन्दगी भर छलता रहता है। कहते हुए भी मन में हौल उठा करता है।..... अपने अन्दर की हलचल भी आभास की छलना ही तो नहीं?'[9]

अपने जीवन तथा जीवन के प्रत्येक कार्य को हर क्षण तोलते रहना, मोहन राकेश की प्रकृति बन चुकी थी। डायरी में इस प्रकार असंतोष कई स्थानों पर मिलता है। ऐसे गद्यांशों के पढ़ने के पश्चात 'न आने वाला कल' उपन्यास के नायक की मानसिकता स्पष्ट रूप से समझ में आने लगी है। उसमें पारे की-सी चमक तथा पारे की अस्थिरता मोहन राकेश जैसी ही है।

किन्तु एक प्रश्न मन में उठता है, संस्कृत में शास्त्री और एम. ए. करने वाले मोहन राकेश ने अपने चिन्तन को स्वरूप देने के लिए तथा जीवन-पथ पर कई बार डोलते हुए भगवद्गीता, उपनिषद् या संस्कृत साहित्य के प्रभास एवं विवेक का आश्रय क्यों नहीं लिया? संभवतः आग्रही होकर मोहन राकेश ने अतीत के सभी ज्ञान के बोझ को एक ओर रख दिया था। जीवन से सीधे टकरा कर, प्राप्त अनुभवों के आधार पर मोहन राकेश अपने लिए सिद्धान्त निर्मित करते—और उनके अनुरूप चलने का प्रयास करते। किसी के दिशा-निर्देश के अनुरूप चलना उनके लिए संभव नहीं था। संस्कृत मनीषा का यदि राकेश ने आश्रय नहीं लिया तो पाश्चात्य चिंतन भी उन पर हावी नहीं हुआ। अपने समकालीनों की भांति उन्होंने बात-बात पर फ्रायड, मार्क्स या सार्त्र की दुहाई नहीं दी। किसी चिन्तन का आग्रह उन्हें नहीं था। जीवन की प्रामाणिक अनुभूति, जीवन की गति, जीवन को विकसित करने की ललक, जिजीविषा में ही उनकी आस्था थी। एक प्रश्न मन में उठता है कि गौतम बुद्ध तथा बौद्ध धर्म से सीधे सम्बन्ध रखने वाले नाटक की रचना करते हुए भी मोहन राकेश ने 'धम्मपद' के विवेक का आश्रय क्यों नहीं लिया? परंपरा से सहज रूप में सुलभ मनीषा एवं प्रभास को नकारा क्यों? संभवतः अपने युग के संस्कृतज्ञों की जड़ता इसका कारण हो सकती है। कारण जो रहा हो, किन्तु परम्परा को आत्मसात किए बिना निर्मित साहित्य अपने समकालीनों में भले ही महत्व प्राप्त कर ले, समय की कसौटी पर कितना खरा उतरेगा, इसकी परीक्षा होनी बाकी है। क्योंकि ऐसे साहित्य के पात्रों में अपनी स्थितियों-परिस्थितियों से संघर्ष करने की अपार क्षमता तो होती है किन्तु जीवन की अतल गहराईयों में उतरकर उस रोशनी या चमक को देने की क्षमता कई बार नहीं होती। उसमें गेरा[10], देवू[11] या ज्यां क्रिस्तोफ़[12] बनने की क्षमता नहीं होती। क्योंकि ये पात्र समय की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अपने युग की सामान्य समझ भी देते हैं और दिशा का संकेत भी। क्या मोहन राकेश का कोई भी पात्र ऐसा बन पाएगा, कहा नहीं जा सकता।

लेखन के लिए अपनी प्रतिबद्धता को मोहन राकेश ने बार-बार प्रकट किया है। न लिख पाने की बेचैनी और लेखक के लिए सुविधाएं जुटाने के लिए भटकना, यह उनकी प्रकृति का एक अंग बन गया था। किन्तु लेखन से भी अधिक जीवन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता थी। अर्जित ज्ञान को जीवन पर लागू करके देखने का उनमें अदम्य साहस था। सैक्स को उन्होंने जीवन की एक महत्वपूर्ण जैविक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया। बिना किसी अपराध भाव के मध्यवर्गीय वर्जनाओं को तोड़ते हुए निकुंठित स्वस्थ यौन दृष्टि अपनायी। अपनी

जैविक आवश्यकताओं को पहचानते हुए ही प्रत्येक विच्छेद के बाद शीघ्र विवाह किया। इससे स्पष्ट है कि यौन-सम्बन्धों में निहित सामाजिक दायित्व को मोहन राकेश मान्यता देते थे। सम्बन्ध विच्छेद के बाद भी पहली पत्नी शीला से प्राप्त सन्तान के प्रति अपनी जिम्मेदारी से उन्होंने कभी मुंह नहीं मोड़ा। अपनी मां, भाई तथा बच्चों के प्रति एक लगाव तथा कर्त्तव्य-बोध का मिला-जुला रूप उनके मन में सदा बना रहा। अनीता के साथ जीने से पायी सन्तान को पूरा अधिकार दिया। अनीता को पत्नी का दर्जा और बच्चों को सभी तरह के उत्तराधिकार। कुछ मूल्यों पर वे इतने ठोस रूप से खड़े थे कि कोई भी परिस्थिति उन्हें हिला नहीं सकती थी। जीवन के प्रति यह प्रतिबद्धता उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी।

मोहन राकेश के साहित्य का मूल स्रोत यही जीवन था—द्वन्द्व, संघर्ष, संकट तथा आपदाओं से गुजरता जीवन। वैसे तो प्रत्येक महान साहित्य का आधार जीवनानुभूति हुआ करती है, किन्तु समकालीन होने के कारण मोहन राकेश की जीवनानुभूतियों के साथ उनके साहित्य का सम्बन्ध बैठाना अपेक्षाकृत सुगम है। यह सम्बन्ध बैठाने का आशय उनकी जीवनगत विसंगतियों को रेखांकृत करना नहीं, अपितु उनके साहित्य को अधिक गहराई के साथ समझने का प्रयास करना है। 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका संभवतः मोहन राकेश के प्रथम प्रण की आधार वह लड़की है जो क्लासें छोड़कर अमृतसर से लाहौर आया करती थी। जिसका फर्जी नाम मोहन राकेश ने दिव्या रखा था। कॉलेज की बोट में वह उसे रावी पार ले जाता। वहां मूली और शलजम के खेतों में टहलता हुआ अपना 'सिनिसिज्म' झाड़ता।[13] 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका के व्यक्तित्व को स्वरूप देने वाले अन्य अनेक सूत्रों में प्रमुख संभवतः 'दिव्या' ही रही होगी। स्वतंत्र लेखन बनाम राजाश्रय का द्वन्द्व कालिदास की अपेक्षा राकेश का अधिक था, इसे सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। आर्थिक दबाव से मोहन राकेश ने अनेक प्रकार की नौकरियां स्वीकार कीं—फिल्मों के लिए कहानी लेखन, टीचरी, प्रोफेसरी और सम्पादक की, परन्तु हर नौकरी की अंतिम परिणति थी—त्याग-पत्र। राजाश्रय तथा नौकरी के सभी दबावों से मुक्त अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में स्वतंत्र लेखन के आधार पर जीवन यापन करते रहे। मोहन राकेश ने कालिदास के माध्यम से अपने युग के साहित्यकार की आंतरिक वेदना को भी रूप दिया, किन्तु उनकी अपनी अन्तर्वेदना की छटा उसमें सबसे अधिक थी। सन् 1957 से 1962 तक के इस काल में मोहन राकेश ने दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। पहली, 'आषाढ़ का एक दिन' तथा दूसरी 'अंधेरे बन्द कमरे।' 'एक और जिन्दगी' कहानी सन् 1961 में लिखी गयी। इन दिनों मोहन राकेश पहले दोनों विवाहों के तल्ख अनुभवों में से गुजर रहे थे और जालन्धर से दिल्ली आ जाने पर महानगरीय बोध को भी स्वीकार कर रहे थे। शायद इसीलिए 'अन्धेरे बन्द कमरे' उपन्यास में दिल्ली के दमघोंटू वातावरण को महत्व दिया गया तथा इसमें बदलते मानवीय सम्बन्धों की भी पहचान की गई है। सन् 1963 में मोहन राकेश एक ओर अनीता के साथ नये सम्बन्ध को स्थापित करने में प्रयत्नशील थे और दूसरी ओर 'लहरों के राजहंस' नाटक लिख रहे थे। पहले दोनों विवाहों के फलस्वरूप आशंकित मोहन राकेश उम्र में अपने से बहुत छोटी लड़की के साथ घर बसाने की सोच रहे थे। अनीता के सौन्दर्य पर मुग्ध मोहन राकेश कई तरह के समझौते कर रहे थे। किन्तु उसके बचकाने व्यवहार को अपने लेखन में बाधा मानकर कई बार उसे बम्बई भेज देते या स्वयं वहां से चले जाते। दाम्पत्य में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का मूलाधार क्या है, इसकी खोज राकेश ने 'राजहंस' नाटक को लिखते हुए की। इस नाटक के तीसरे अंक को दो बार बदलने के बावजूद वह पूरी तरह संतुष्ट नहीं थे। इस नाटक का नन्द भी मोहन राकेश की तरह से अनेक संघर्ष तथा मानसिक द्वन्द्वों के बीच उलझा हुआ अपने लिए स्वयं नयी राह की तलाश कर रहा है। बिना किसी ओढ़े हुए सिद्धान्त के जीवनानुभूति के आधार पर अपने सत्व को स्वयं उठाए अपनी मुक्ति की राह ढूंढ रहा है, ऐसी राह, जिस पर चलकर जीवन सार्थक हो जाए, जीवन को अर्थ मिल जाए।

सन् 1964 के बाद की रचनाओं में उलझाव कम और सोच की सफाई अधिक दीखती है। कथ्य एवं शिल्प दोनों धरातलों पर रचनाओं में यह स्पष्टता देखी जा सकती है। 'आधे-अधूरे' बीज नाटक तथा 'बहुत बड़ा सवाल' नामक एकांकी इसी दौरान की रचनाएं हैं। आर्थिक संकट के बावजूद इस दौरान घरेलू स्तर पर भटकन कम हुई तथा एक स्थिरता आयी। घर में बच्चों के होने से जिंदगी जड़े पकड़ने लगी थी। सन् 1963 में अनीता के साथ सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात, साल भर हुई तकलीफ़ के कारणों की खोज करते हुए संभवतः राकेश ने मध्यवित्तीय तथा निम्न मध्यवित्तीय मानसिकता के सम्बन्ध में बहुत विचार किया होगा। 'चन्द सतरें और' के पूर्वार्ध को ध्यान से पढ़ने के पश्चात 'आधे-अधूरे' के प्रेरणा-स्रोत के सम्बन्ध में काई संदेह नहीं रहता। अनीता के परिवार को आधार बनाकर यह नाटक लिखा गया। महेन्द्रनाथ में पूरी तरह से न तो अनीता के पिता का चित्र है और न ही राकेश का कोई पक्ष। गोविन्द चातक का, राकेश की यार-बाजी के कारण, उसकी महेन्द्रनाथ के साथ समानता बैठाना उपयुक्त नहीं लगता। मोहन राकेश ने यार-बाजी तथा शराब की महफिलों के अपने अनुभव को, मेहन्द्रनाथ के व्यक्तित्व की रेखाओं को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त अवश्य किया है, किन्तु इस कारण से, मोहन राकेश तथा महेन्द्रनाथ में समानता देखना, नाटक तथा रचनाकार दोनों के साथ अन्याय करना होगा। 'हुं' तथा 'शायद' बीज नाटकों को कुछ विद्वानों ने 'आधे-अधूरे' के पूर्वाभ्यास के रूप में लिखे गए लघु नाटक माना है। सही मायने में देखा जाए तो ये दोनों लघु नाटक लेखक की अपनी अनुभूतियों के दायरे से बाहर की रचनाएं हैं। यहां नाटककार पूरी तरह से एक स्रष्टा के रूप में सामने आता है। अपनी अलग-अलग चेतना तथा संवेदना से संचालित हैं इनके पात्र। बहुत कम शब्दों के माध्यम से नाटककार इनके पूरे जीवन की त्रासदी को रूप दे रहा है। 'पैर तले की जमीन' के पात्र भी अपने अलग-अलग बोध और चेतना को लेकर निर्मित हो रहे हैं। 'छतरियां' पार्श्व नाटक में बदली स्थिति में निरीह असुरक्षित आम आदमी की अन्तर्वेदना को व्यक्त किया गया है। अंतिम तथा अधूरे रह गए 'पैर तले की जमीन' नाटक की रचना मोहन राकेश, मृत्यु का सीधा साक्षात्कार करने वाले हर उमर के अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुषों के जीवन की विसंगतियों को दिखाने के उद्देश्य से ही कर रहे थे। जीवन-स्थितियों की अपेक्षा मानव-नियति राकेश के लिए महत्वपूर्ण होती जा रही थी। कथ्य चेतना की दृष्टि से यह बहुत ही स्वस्थ मोड़ था। किन्तु 'पैर तले की जमीन' नाटक पूरा भी नहीं कर पाए थे कि अचानक 3 दिसम्बर 1972 को मोहन राकेश का हृदय-गति रुक जाने के कारण देहान्त हो गया। हिन्दी नाटक और रंगमंच अन्धकार में डूब गया।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मोहन राकेश ने हिन्दी नाटक को रंगचेतना से प्रतिस्पंदित करते हुए वयस्कता प्रदान की। हिन्दी कहानी के विकास के लिए अनेक नये क्षितिजों की ओर संकेत किया तथा स्वतंत्र लेखन के बल पर जीने के लिए संघर्ष के नये प्रतिमान स्थापित किए।

❑

संदर्भ

1. राजेन्द्र पाल, अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व, नाटककार मोहन राकेश (सम्पा.) सुन्दर लाल कथूरिया 1974, नयी दिल्ली, कुमार प्रकाशन, पृ. 22, 2. वासु भट्टाचार्य, राकेशः एक अंतरग परिचय। (लेख), मोहन राकेश साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, 1975, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 12, 3. वही, पृ. 12-13, 4. वही, पृ. 13, 5. तिलक राज शर्मा, अपने नाटकों के दायरे में नाटककार मोहन रोकश, 1976, नई दिल्ली, आर्य बुक डिपो, पृ. 1-2, 6. अर्नीता राकेश, चन्द सतरें और, 1975, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 75, 7. मोहन राकेश की डायरी, 1985, दिल्ली, राजपाल एण्ड संस, पृ. 254, 8. वही, पृ. 245, 9. वही पृष्ठ, 239, 10. रवीन्द्र नाथ ठाकुर के उपन्यास गोरा का नायक, 11. तारा शंकर वंद्योपाध्याय के उपन्यास गणदेवता 'ज्यां क्रिसतोफ' का नायक, 12. रोमां रोलां के उपन्यास का नायक, 13. परिवेश पृष्ठ-18

डॉ. वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता द्वारा लिखित और हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़ द्वारा प्रकाशित पुस्तकः 'मोहन राकेश का साहित्य' से साभार।

मोहन राकेश की कहानी

भूखे

पहली बार उस महिला को मैंने शिमले की मालरोड पर देखा था। तब वह शिमले में नयी ही आयी थी। शिमले में नये आनेवाले लोग, यदि उनमें कुछ भी विशेषता हो, तो बहुत जल्दी पहचाने जाते हैं, और मेरे दोस्त सतीश-जैसे लोग चार-छह दिनों में ही उनकी आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक स्थिति का पूरा ब्यौरा भी ढूँढ निकालते हैं। सतीश यह सब पता किस प्रकार पा लेता था यह मैं नहीं कह सकता, अलबत्ता इतना ज़रुर है कि उसकी बात कभी ग़लत नहीं निकलती थी। इसीलिए हम उसे चलता-फिरता एन्साइक्लोपीडिया कहा करते थे। जिस समय हमने उस महिला को पहली बार देखा उसी समय मैंने सोच लिया था कि सतीश ज़रुर उसकी खोज-ख़बर निकालेगा। वह सुन्दर तो थी ही पर उससे भी बड़ी बात यह थी कि भारतीय न होने पर भी उसके शरीर पर सलवार-क़मीज़ बहुत खिल रही थी। वैसे तो मालरोड़ पर कोई न कोई अँगरेज या एंग्लो-इण्डियन लड़की गाहे-बगाहे सलवार-क़मीज़ पहने नज़र आ जाती थी, पर अकसर उसके शरीर पर वे वस्त्र पराये-से लगते थे। शायद उनके कन्धों की बनावट ज़रा भिन्न होती है या शायद उनका बाँहें हिलाने का अन्दाज़ ज़रा और-सा होता है। पर वह उन वस्त्रों में उसी स्वाभाविक ढंग से चल रही थी जैसे पंजाबी लड़कियाँ चलती है। उसकी उम्र तीस-बत्तीस वर्ष के लगभग होगी पर उसका शरीर ज़रा भी नहीं ढला था और पहली नज़र में तो वह बीस-बाईस वर्ष की ही प्रतीत होती थी। उसकी आँखें नीली थीं और बाल घुँघराले और सुनहरे थे। उसका पाँच-छह वर्ष का बच्चा उसके साथ था जो खूब गोरा-चिट्टा था और लाल एवं सफ़ेद ऊन के वस्त्रों में और भी सुन्दर लगता था। वह माँ से अँगरेज़ी में पूछ रहा था, "ममी, शिमला कौन-सा जगह की नाम है?" और वह उसे समझा रही थी कि यह सारा शहर ही शिमला है, उनके घर से बहुत आगे तक।

"यह सड़क भी शिमला है?"

"हाँ, यह भी शिमला है।"

"और यह बर्फ़वाला पहाड़ भी?"

"नहीं, वह शिमला नहीं है।

"वह शिमला क्यों नहीं है?"

और वह उसे समझाने लगी कि वह पहाड़ वहाँ से बहुत दूर है और शिमला का विस्तार उतनी दूर तक नहीं है।

"खूब चीज़ है!" उसके पास से निकल जाने पर सतीश ने कहा। और मुझे उसी समय निश्चय हो गया कि सतीश उसका इतिहास जानने में ज़रूर दिलचस्पी लेगा। और सचमुच कुछ दिन बाद रिज से ऊपर 'दो पैसा बेंच' पर बैठे हुए उसने मुझे उसका पूरा इतिहास सुना दिया।

लगभग सात वर्ष पहले सत्यपाल नामक एक पंजाबी युवक, जे. जे. स्कूल ऑव् आर्ट से चित्रकला में डिप्लोमा

लेकर, आगे और विशेष अध्ययन करने के उद्देश्य से, अपने मित्रों से डेढ़ हज़ार रुपया उधार लेकर फ्रांस चला गया था। वहाँ रहकर छह महीने उसने किसी तरह निकाल लिये, परन्तु उसके बाद गुज़ारा करना कठिन हो गया तो वह काम करके कुछ पैसे बनाने के इरादे से इंगलैण्ड चला आया। वहाँ वह एक जूता बनाने के कारखाने में कुछ दिन चमड़ा साफ़ करने का काम करता रहा। वहाँ काम करते हुए ही उसका एवलीन बार्कर से परिचय हुआ जो कारख़ाने के एक क्लर्क फ्रेड वार्कर की चचेरी बहन थी और कभी-कभी उससे मिलने आया करती थी। फ्रेड वार्कर को भी चित्रकला का थोड़ा शौक़ था और वह अपने पेंसिल के ख़ाके दिखाने के लिए आया करती थी। सत्यपाल के बनाये हुए कुछ ख़ाके और चित्र देखने के बाद अपने ख़ाके उसके पास भी ले जाने लगी और धीरे-धीरे उनका परिचय प्रेम में बदल गया और उन्होंने विवाह कर लिया। एवलीन के पास अपनी चार सौ पाउण्ड की पूँजी थी। उन्होंने निश्चय किया कि उस पूँजी की सहायता से साल-भर फ्रांस में रहकर सत्यपाल अपना अध्ययन पूरा कर ले, फिर वे भारत में जा रहेंगे। साल-भर बाद जब वे भारत पहुँचे तो एवलीन एक बच्चे की माँ बन चुकी थी। भारत आकर उन लोगों को एक नयी आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ा। सत्यपाल का ख़्याल था कि वह बम्बई में अपना छोटा-सा स्टूडियो बना लेगा, पर बम्बई में बग़ैर अच्छी पगड़ी दिये जगह मिलना असम्भव था। वह अकेला होता तो चार-छह महीने इधर-उधर धक्के खा लेता, पर एवलीन और बच्चे के साथ होने से उसके लिए तुरन्त आय का कोई ज़रिया पा लेना आवश्यक था। बम्बई में रहकर वह ज़्यादा-से-ज़्यादा किसी कमर्शियल स्टुडियो में नौकरी कर सकता था जो उसे पसन्द नहीं था। पर क्योंकि और कोई चारा नहीं था, इसलिए उसने वही काम आरम्भ कर दिया और तीन-साढ़े तीन साल उस चक्कर में फँसा रहा। इस बीच उसने कई दूसरे चित्र भी बनाये जिन्हें चित्रकारों के सर्कल में काफ़ी पसन्द किया गया, पर ऊँची क़ीमत के समझे जाने पर भी उसके चित्र उसके लिए आय का ज़रिया नहीं बन सके। अन्त में वह बम्बई से दिल्ली चला आया और छह-आठ महीने वहाँ भटकता रहा। लगातार चिन्ता और संघर्ष के कारण उसका स्वास्थ्य काफ़ी गिर गया था और तभी एक डॉक्टर से उसे पता चला कि उसे टी. बी. हो गया है।

एवलीन अपना सब कुछ बेच-बाचकर उसे शिमले ले आयी थी। हालाँकि पहाड़ पर रहकर भी उसके रोगमुक्त हो जाने की आशा नहीं थी, फिर भी वह उसे अपने पास एकान्त में रखना चाहती थी। उसने समरहिल में एक छोटा-सा ख़स्ताहाल घर किराये पर लिया था। वह खुद घर की सफ़ाई करती थी, खाना बनाती थी, अस्पताल से दवाई लाती थी और एक ओर पति की और दूसरी ओर बच्चे की देखभाल करती थी। बच्चे को पति से दूर रखने के लिए उसे जो चेष्टा करनी पड़ी थी वह कई बार उसे रुला देती थी। पर वह यथासम्भव आत्मवश रहकर बच्चे को टहलाने भी ले आती थी और उसे गुब्बारे भी ख़रीद देती थी।

कहानी पूरी करने तक सतीश काफ़ी भावुक हो गया। उसने सामने दूर की पहाड़ियों पर दृष्टि गड़ाये हुए कहा, "इसे प्यार कहते हैं दोस्त! है न एक मिसाल? ... फिर लोग कहते हैं कि ज़िन्दगी में पैसा ही सबकुछ है। क्या चीज़ है पैसा? इन्सान की भूख पैसे से नहीं मिटती, प्यार से मिटती है।"

और वह आँखें मूँदकर सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचने लगा।

कुछ दिन बाद मैंने एक होटल में छह-सात तैलचित्र लगे हुए देखे जिनके साथ यह नोटिस लगा था कि वे बिकाऊ हैं। साथ पूछताछ के लिए एवलीन कपूर का समरहिल पता दिया हुआ था।

दिन के दस-ग्यारह बजे का समय था जब कि होटलों में प्रायः सभी सीटें ख़ाली होती हैं। उस समय सारे हॉल में मैं अकेला ही था। होटल की शीशेवाली खिड़कियों से छनकर धूप उन चित्रों पर आकर पड़ रही थी। उन चित्रों में धूमिल-से लाल और मटमैले रंग का विशेष प्रयोग किया गया था। मैं काफ़ी देर तक उन चित्रों को देखता रहा। मुझे चित्रों की ज़्यादा समझ नहीं है, फिर भी मेरे हृदय पर उनका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा जैसे

कोई मेरी ओर देखकर दीवानावार प्रलाप कर रहा हो और आस-पास हर चीज़ को ठोकर लगाने की चेष्टा कर रहा हो। एक चित्र का शीर्षक था 'गिद्ध'। उसमें गिद्धों की आँखें कुछ ऐसी थीं जैसे वह दुनिया की हर चीज़ को निगल जाना चाहती हों। चोंचों और पंजों पर पुराने जमे हुए लहू के निशान थे। वह एक ऐसा चित्र था जिसे देखकर आँख हटा लेने को मन होता था और आँखें, हटा लेने पर फिर देखने की कामना होती थी। 'दाता' शीर्षक चित्र भी कुछ ऐसा ही था। उसमें एक हड्डियों का ढाँचा एक ठूँठ के नीचे बैठा हाथ का ख़ाली कटोरा शून्य की ओर उठाये था। वे ऐसे चित्र थे जो डरावनी छायाओं की तरह दिमाग़ में घर कर जाते थे। मैंने होटल के मैनेजर के पास जाकर उससे पूछा। उन चित्रों में से कोई बिका भी है या नहीं।

"इन भूतों की तस्वीरों को कौन ख़रीदेगा?" उसने बिल बुक खोलकर पेंसिल से बिल बनाते हुए कहा, "मैंने उस औरत का दिल रखने के लिए यहाँ पर लगा दी थीं, अब चार-छह दिन में उतारकर भेज दूँगा।"

"कोई तुम्हारे पास कीमत पूछने के लिए भी नहीं आया?" मैंने उससे पूछा।

"कीमत तो लोग शौकिया पूछ लेते हैं," वह बोला, "पर किसी का दिमाग़ बिगड़ा है कि हज़ार-हज़ार रुपया देकर इन तस्वीरों को ख़रीदेगा? मैं तो कहता हूँ कि कोई दस-दस रुपये में भी ख़रीदने को तैयार हो जाये, तो बहुत मेहरबानी करेगा। मगर वह जाने इन्हें क्या समझती है?"

"कितने दिन हो गये इन तस्वीरों को यहाँ लगे हुए?"

"चौदह-पन्द्रह दिन हो गये हैं।"

"इतने दिनों में कोई भी उससे बात करने नहीं गया?"

"अरे यार," वह होंठों को ज़रा सिकोड़कर बोला, "बात करने के लिए तो पचास आदमी जाते हैं मगर उनका बात करने का मक़सद तस्वीरें ख़रीदना थोड़े ही होता है? वे तो इसलिए जाते हैं कि दस मिनिट बात का लुत्फ़ ले लें।... तुम भी हो आओ। पहले तो तीन-चार दिन वह खुद ही यहाँ आती रही है, मगर अब नहीं आती। समरहिल से दिन में दो-दो बार यहाँ तक पैदल आती थी। एक सरदार तो उस पर बुरी तरह से रीझ गया था।" और वह बिल मेरी ओर बढ़ाता हुआ दाँत निकालकर मुस्करा दिया।

दूसरी बार जब मैंने उसे देखा तब उसके पति की मृत्यु हो चुकी थी।

लोअर बाज़ार के आरम्भ में ही तीन-चार ढाबे हैं जिनमें मज़दूर, छोटे-मोटे दुकानदान और दफ़्तरों के बाबू रोटी खाते हैं। उन्हीं में से एक ढाबे में एक रात मैं खाना खा रहा था, जब वह बच्चे की उँगली पकड़े हुए ढाबे के पास से निकलकर आगे चली गयी। बच्चा चलता हुआ किसी चीज़ की ज़िद कर रहा था और वह उसे मनाने की कोशिश कर रही थी। थोड़ी ही देर बाद वह लौटकर आयी और इस बार ढाबे के सामने रुक गयी। बच्चा उसका हाथ पकड़कर उसे ढाबे की ओर खींचने लगा। होटल के लाला, नौकरों और वहाँ बैठकर खाना खानेवाले सब लोगों की नज़रें उस पर केन्द्रित हो गयीं। उसने क्षण-भर दुविधा में इधर-उधर देखा और फिर बच्चे को साथ लिये हुए ढाबे के अन्दर आ गयी। अन्दर बैठे हुए लोग आँखों-ही-आँखों में एक-दूसरे की ओर इशारे करके मुस्कराये। एक सरकारी दफ़्तर का क्लर्क स्वर के साथ उँगलियाँ चाटने लगा। एक नौकर के हाथ से दाल की कटोरी गिर गयी। वह बच्चे को लिये हुए कोने में बने हुए लकड़ी के केबिन में चली गयी और महीनों का मैला परदा उसने आगे खींच लिया। नौकर उधर आर्डर लेने जाने लगा तो लाला ने उसे इशारे से रोक दिया और स्वयं उठकर आर्डर लेने पहुँच गया। पीछे से एक बाबू ने फबती कसी: "हम भी बैठे हैं सूद साहब!"

लाला आर्डर लेकर मुस्कराता हुआ अपनी गद्दी पर लौट आया और नौकर से बोला कि अन्दर एक आलू की टिकिया दे आये।

लोगों की बातचीत प्रायः बन्द हो गयी थी और ख़ामोशी में खाना खाया जा रहा था। लोगों की आँखें, नासिकाएँ और होंठ मुस्करा रहे थे। जो बातें कही नहीं जा सकती थीं उनका चटख़ारा लोग इशारों में ले रहे थे। नौकर जब आलू की टिकिया प्लेट में डालकर अन्दर ले गया तो सहसा अन्दर से बच्चे के रुआँसे स्वर में चिल्लाने का शब्द सुनायी दिया, "मैं अण्डे खाऊँगा, मैं अण्डे खाऊँगा।"

"मैं तुझे अण्डे खिलाऊँगी, ज़रुर खिलाऊँगी," उसकी माँ का संयत स्वर सुनायी दिया, "पर इस समय नहीं, फिर कभी आयेंगे।"

"मैं अभी खाऊँगा, अभी!" बच्चा फिर उसी तरह रोया।

"तुझसे कहा अभी नहीं," माँ बोली, "मैं तुझे रोज़ अण्डे खिलाया करुँगी, थोड़े दिन ठहर जा।"

बाहर ख़ामोशी और गहरी हो गयी थी। इशारेबाज़ी भी बन्द हो गयी थी। लोगों के चेहरों पर हल्का खिसियानापन दिखायी दे रहा था।

"मैं रोज़ नहीं खाऊँगा, मैं सिर्फ आज ही खाऊँगा!" बच्चा मचल रहा था।

"आज तुम टिकिया खाओगे! खाओ!"

"नहीं, मैं सिर्फ टिकिया नहीं खाऊँगा।"

लाला अपनी जगह से फिर उठा और एक प्लेट में दो उबले हुए अण्डे रखकर अन्दर ले चला। लोगों की दृष्टियों का भाव फिर बदल गया और एक आदमी थोड़ा खाँस दिया।

"यह बच्चे को दे दीजिए," उसने अन्दर जाकर कहा।

"आपसे किसने लाने को कहा है?"

"कहा तो किसी ने नहीं, ये मैं अपनी तरफ़ से ...।"

"इन्हें वापस ले जाइए।"

वह बुदबुदाता हुआ वापस लौट आया।

एक आवाज़ सुनायी दी, "सूद साहब, अण्डे घर की मुर्ग़ियों के हैं या बाज़ार की?"

लाला ने एक बाजर आग्नेय दृष्टि से कहने वाले की ओर देखा और फिर हिसाब की कापी के पन्ने पलटने लगा।

अन्दर से बच्चे के सुबकने का स्वर सुनायी दे रहा था।

"तू यह खायेगा या नहीं?" माँ ने उससे तीखे स्वर में पूछा।

बच्चा कुछ उत्तर न देकर सुबकता रहा।

"तो उठ चल यहाँ से।" उसने और भी सख़्त स्वर में कहा, और वह बच्चे को लगभग घसीटती हुई बाहर निकल आयी।

उसके बाहर आने पर मैंने उसे ग़ौर से देखा। वह पहले से काफ़ी बदली हुई थी। उसकी नीली आँखों के नीचे हल्के-हल्के काले दायरे बन गये थे। उसके होंठों पर पपड़ियाँ जम रही थीं और गालों पर खुश्क सफ़ेदी झलक आयी थी। यद्यपि उसके शरीर का कसाव पहले-जैसा ही था, फिर भी चेहरे पर अधिक प्रौढ़ता आ गयी थी। पंजाबी वस्त्र उस समय उसके शरीर पर उतने स्वाभाविक नहीं लग रहे थे। उसका बच्चा भी पहले से कुछ दुबला हो गया था और उसके होंठ लगातार रोनेवाले बच्चे से लगे रहे थे। उसके नरम बाल सिर पर उलझ रहे थे और पलकों में आँसुओं की दो बूँदें अटकी हुई थीं। वह केबिन के बाहर आते ही तेज़ी से अपना हाथ झटककर माँ से पहले ढाबे के बाहर चला गया। एवलीन ने गद्दी के पास रुककर पैसों के विषय में पूछा तो लाला ने तेवरी चढ़ाये हुए उत्तर दिया, "चार आने।"

वह जानती थी कि एक टिकिया के उसे दो आने माँगने चाहिए, इसलिए उसने तीखी नज़र से लाला को देखा मगर बिना कुछ कहे दो दुअन्नियाँ उसकी गद्दी पर फेंककर बाहर चली गयी।

"आज रेट बढ़ा दिये हैं सूद साहब?" उसके चले जाने पर एक आवाज़ सुनायी दी।

"बड़ा दिमाग दिखा रही थी," लाला सब खानेवालों को लक्षित करके बोला, "अब सारा दिमाग़ निकल गया कि नहीं?"

और फिर सब कुछ पहले की तरह चलने लगा—बातें, कहकहे और दाल-सब्जी के लिए ज़ोर-ज़ोर की पुकार। थोड़ी देर के लिए जो विराम आया था उसने शायद लोगों की भूख और बढ़ा दी थी क्योंकि तन्दूर में रोटी लगानेवाला बहुत फुर्ती करता हुआ भी लोगों की माँग पूरी नहीं कर पा रहा था।

तीसरी बार मैंने उसे काफ़ी दिनों में देखा।

सतीश और मैं शाम को बालरुम की तरफ़ जा रहे थे। महीने के पहले सप्ताह में हम लोग एकाध बार वह एय्याशी कर लिया करते थे। हमें खुद नाचना नहीं आता था, और न ही वहाँ हमारा किन्हीं लोगों से परिचय था। मगर अपने लिए इतना ही बहुत था कि कोने में बैठकर वहाँ नाचती हुई आकृतियों को देख लेते थे। सतीश उनमें से कइयों के इतिहास भी सुनाया करता था। शिमले की प्रायः सभी सोसाइटी गर्ल्ज़ वहाँ आती थीं। उनका मेक-अप और उनकी मुस्कराहटें दूर से बहुत सुन्दर लगती थीं। वहाँ मित्रता के नाम पर वे सौदे आसानी से हो जाते थे जिन्हें सरेआम करना अपराध था।

वह हमें बालरुम से थोड़ी दूर कच्चे रास्ते पर दिखायी दी। वह अपने बच्चे को साथ लिये इलीज़ियम होटल की तरफ़ से आ रही थी। उसने साधारण छीट का फ्रॉक पहन रखा था। उसके बच्चे ने वही लाल और सफ़ेद ऊन के कपड़े पहन रखे थे जो अब मैले हो रहे थे। वह बच्चे की उँगली पकड़े ऐसी सूनी नज़र से सामने देखती चल रही थी जैसे उसे आसपास किसी वस्तु की स्थिति का आभास ही न हो। उसे देखकर मेरे हृदय पर उस समय कुछ वैसी ही छाप पड़ी जैसी कि उसके पति के बनाये हुए चित्रों को देखकर पड़ी थी। उस के चेहरे के सौन्दर्य में विशेष अन्तर नहीं आया था परन्तु चेहरे का भाव इतना बदल रहा था कि मैं उसे शिमले में न देखकर और कहीं देखता तो पहचान भी नहीं पाता। वह जैसे अपने स्वाभाविक रूप से एक व्यंग्याकृति में बदल गयी थी।

सड़क के मोड़ के पास आकर वह मूँगफली वाले के पास रुक गयी। वह दो पैसे निकालकर मूँगफली वाले को देने लगी तो बच्चे ने उसका हाथ पकड़कर मचलकर कहा, "नहीं, मैं नहीं लूँगा।"

उसने बच्चे की ठुड्डी को छूकर उसे पुचकारा और कहा, "तू मेरा कितना अच्छा बेटा है! ममी की हर बात मानता है। देख न कितनी अच्छी मूँगफली है।"

"नहीं, मैं यह नहीं खाऊँगा," लड़का हठ पकड़कर बोला, "मैं कबाब खाऊँगा, मैं आलू की टिकिया खाऊँगा।"

"नहीं बेटे," वह फिर समझाती हुई बोली, "ममी की तू इतनी बात नहीं मानता? मैं तुझे आलू की टिकिया भी खिलाऊँगी, सबकुछ खिलाऊँगी, मगर कुछ दिन ठहर जा। समझा न? इस वक़्त तू यह मूँगफली ले ले, बहुत अच्छी भुनी हुई मूँगफली है।"

"नहीं, मैं कुछ नहीं खाऊँगा। कुछ नहीं खाऊँगा!" लड़का और अधिक मचलकर उसका हाथ छोड़कर आगे-आगे चल दिया। वह क्षण-भर मूँगफलीवाले के पास रुकी रही। फिर वह भी चल दी।

"इसके पास इसके पति की बनायी हुई बहुत-सी तस्वीरें हैं," सतीश मुझसे बोला।

"मुझे पता है!" मैंने कहा।

"यह समझती है कि किसी दिन वे तस्वीरें अच्छी कीमत पर बिक जायेंगी। यहाँ अकसर लोग इससे तस्वीर ख़रीदने की बात करते हैं, मगर फिर आपस में इसका मज़ाक उड़ाते हैं। असल में वे चाहते कुछ और ही हैं।"

"मुझे पता है!" मैंने कहा।

हम सब लोग बालरुम के सामने पहुँचे गये थे। बालरुम की खिड़कियों से छनकर आती हुई रोशनी बहुत सुन्दर लग रही थी। ऊपर से आर्केस्ट्रा की मीठी धुन सुनायी दे रही थी। बालरुम के समाज की दो सुन्दर लड़कियाँ चहकती हुई बालरुम की सीढ़ियाँ चढ़ रही थीं।

एवलीन का लड़का सड़क पर मुँह फुलाये खड़ा था। एवलीन ने एक नज़र ऊपर जाती हुई लड़कियों पर डाली और बालरुम की रोशनी से चमकती हुई परदेदार खिड़कियों पर से फिसलती हुई उसकी दृष्टि हमसे मिली, फिर एकदम बच्चे के कन्धे पर हाथ रखकर उसे पुचकारती हुई वह आगे चल दी।

सीढ़ियों पर चढ़ते हुए हमने ऊपर तालियों का शब्द सुना। शायद तभी कोई धुन बजकर समाप्त हुई थी।

❐

मोहन राकेश की डायरी के अंश

धर्मशाला : 11.6.58

कल और आज में मन बहुत खुल गया है। यहाँ की हवा, चिड़ियों के शब्द, दूर से आती हुई बसें, बलखाती सड़कों पर चढ़ता-उतरता जीवन—यह वातावरण जैसे धीरे-धीरे कलुष को धोए दे रहा है—कलुष जो कि हताशा और अविश्वास और पराजय की भावना के रूप में मन को घेरे था। बहुत दिनों में मन और मस्तिष्क इस सहज स्थिति में आए हैं।

कल डॉ. मदान को पत्र लिखकर पता नहीं ठीक किया या नहीं। उससे मन कुछ हल्का अवश्य हुआ —यद्यपि अपना ego कहीं से छिलता है। परन्तु यह छिलन एक दिन की ही तो होगी—

रात की सैर, खुली हवा, बियर के घूंट, निर्मुक्त बातचीत—इससे मन बहुत स्वस्थ हुआ और खूब अच्छी नींद आई।

जाने के कार्यक्रम के सम्बन्ध में भी निर्णय हो-सा गया। यहाँ से मनाली तक पैदल जाएँगे। हमारे वहाँ पहुँचने तक पंडित जी वहाँ से जा चुकेंगे, इसलिए जगह की दिक्कत न होगी। उतने दिन धर्मशाला बैठे रहने का तो कोई अर्थ नहीं।

शिवास्ते सन्तु पन्थानः।

थोड़ी ही दूर जाकर रास्ता पुल की मुंडेर की तरह दोनों ओर खड़ी चट्टानों में से होकर बाईं ओर को हट गया और सामने खुली घाटी दिखाई देने लगी। ब्यास की धार दाईं ओर के विस्तार से आगे घने देवदारों में जा छिपी थी और उसकी आवाज़ ही उसकी सत्ता का प्रमाण दे रही थी। मेरी आंखों के सामने खुले खेत थे, बाईं ओर के ऊंचे पहाड़ को काट-काट कर एक विशाल दुर्ग का-सा रूप दे दिया गया था। ब्यास के पार भी देवदार के जंगल, फिर खेत, फिर चट्टानें—यही कुछ दिखाई दे रहा था। वह ऐसा विस्तार था जहाँ जाकर अनुभव होता है कि आसपास का सारा वातावरण एक ही स्वर में ध्वनित हो रहा है—चुप-चुप ! चुप-चुप!

घाटी के बीच से सड़क बल खाती हुई जा रही थी। जहाँ तक आँख जाती थी, सड़क पर कोई आकृति नहीं थी। मैं छड़ी को पीछे से गरदन पर रखकर दोनों हाथों से पकड़े चलता रहा, फिर छड़ी को ज़ोर-ज़ोर से मारने लगा। मैं वास्तव में कहना चाहता था कि मैं प्रसन्न हूँ और स्वस्थ हूँ (वैसा नहीं जैसा हर पत्र के अन्त में लिखा रहता है— आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे)।

मुझे फिर श्याम चाचा की याद आई। मन में प्यार और आदर का भाव जागृत हुआ। बीस-बाईस की उम्र में भी उनके पास कितनी गहरी सौन्दर्य चेतना रही होगी? उस बलिष्ठ और अति स्वस्थ शरीर में कितनी

कोमल भावनाएँ निहित रही होंगी? हमारे लिए तब कुल्लू और श्याम चाचा और जापानी फल ये सब पर्यायवाची से शब्द थे। तब से अब तक घाटी के सौन्दर्य में तो रंच मात्र भी अन्तर न आया होगा मगर हमारा जीवन! सैंतीस में हम कहाँ थे—सैंतालीस में कहाँ और आज...? घाटी के पीछे एक दूसरी के पीछे ढलती हुई पहाड़ियों की श्रृंखला जैसे गम्भीर भाव से संकेत कर रही थी—चुप चुप! बस चुप!

अड़ेऊ गाँव आ गया। धर्मशाला में कुलतार चंद ने जगतसुख की सुन्दरियों की चर्चा की थीं जगतसुख अड़ेऊ से अढ़ाई-तीन मील आगे होगा— और उससे भी छः मील आगे नग्गर जहाँ रोरिक परिवार रहता है। सूर्यास्त हो चुका था। अड़ेऊ गाँव के लकड़ी के घरों में जीवन जैसे स्तब्ध था, कहीं कोई आवाज नहीं, हलचल नहीं, रोशनी नहीं, केवल दो एक चेहरे, जैसे उस उदास गांव को human touch देने के लिए ही वे बैठाए गए हों।

एक दम्पत्ति मेरे आगे-आगे चल रहे थे। दोनों की पीठ पर बोझ था। पुरुष के हाथ में एक घड़ा, एक छाता और एक छड़ी भी थीं पुरुष ने बताया कि वे लोग भुनतर के मेले में वह सब खरीदकर ला रहे हैं। दो रातें वहाँ रहकर वे आज लौट रहे हैं। उसका नाम था ननकू और उसकी वहाँ पास में ही अपनी जमीन थीं

उतराई आरम्भ हुई। नीचे नाला था जो कई धारों में बंटा था और उस पर तीन जगह पुल बने थे। नाले का पानी कई जगह से काटकर आठ-दस पनचक्कियों में लाया गया था। एक लड़की अकेली चट्टान पर बैठी उदास भाव से नाले को देख रही थी, हमारे पहुँचने तक वह उठकर चली गई। नाले के पार सड़क पर दूर तीन आकृतियाँ आती दिखाई दे रही थीं—वह गुलाबी साड़ी वाली लड़की और उसके साथ के दोनों व्यक्ति। मुझे समय का और भूख का स्मरण हो आया। मैं लौट पड़ा।

सन्ध्या हो गई थीं लौटते हुए ग्लेशियर सामने था। सन्ध्या के प्रकाश ने बर्फ़ को एक तांबई स्पर्श देकर आलोकित कर रखा था। चलते-चलते मुझे महसूस हुआ कि मैं एक विराट संगीत के कई स्वरों के बीच से होकर गुजर रहा हूँ। सामने से आती हुई तेज हवा ह्वांस-ह्वांस करती हुई सुर से टकरा रही थी—पहाड़ की सारी हरियाली को भी अपने स्पर्श से वह गुंजित किए दे रही थी—करोड़ों पत्तों के काँपने का वह स्वर हवा के स्वर से भिन्न होता हुआ भी उसमें खोया हुआ था। और कहीं देवदारों की ओट में छिपा हुआ ब्यास किनारों को अपने स्पर्श से छीलता हुआ, चट्टानों पर टूटता हुआ अपना शब्द कर रहा था—किनारे हिलकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। सन्ध्या का क्षितिज छोटे-छोटे जन्तुओं के स्वर में अपने को ध्वनित कर रहा था—चिकु-चिकु-चिकु-चिकु-चिर —हर्र—तिपु-तिपु-तिपु-तिपु—और किसी पहाड़ी रास्ते से उतरती हुई खच्चरों की घण्टियाँ अलग सुनाई दे रही थीं—टिंटंग—टंग—टंग-टंग टि टंग—टिंग-टिंग-टिंग। कोई खच्चरों के पीछे गाता आ रहा था—ठंडी-ठडी बो ठंडी-ठंडी बो एक चश्मे का पानी ऊँचाई से पत्थर पर गिर रहा था—छप-छप-छप-छप-छप-छप।

और मेरे कदम सड़क पर शब्द कर रहे थे। इन सब आवाज़ों ने मिलकर जैसे मुझे जकड़ लिया। मुझे लगा कि पहाड़, घाटी, दरिया, देवदार, पगडंडी, हवा और मैं सब मिलकर एक साथ उस मादक संगीत की सृष्टि कर रहे हैं जो एक मांसल स्पर्श की तरह रोम-रोम को सहला रहा है—ठंडी-ठंडी बो ठंडी-ठंडी बो—।

सामने ग्लेशियर की बर्फ़ पर नाना चित्राकृतियाँ दिखाई दे रही थीं।—एक मुग्धा युवती का मुखमण्डल—गोल, ठोड़ी तिरछी, भाव कामुक, पुरुष के मुँह पर झुका हुआ। पुरुष स्थिर, चुप, गौतम बुद्ध। उससे पीछे विजेता सिकन्दर ! प्रेम, विराग, अधिकार। आसपास कुछ पक्षी थे, कुछ कटे हुए हाथ-पैर थे। कभी न्याय शास्त्र में पढ़ा था कि सब आकृतियाँ अपेक्षिक हैं—सब आकृतियाँ अपेक्षिक हैं तो बर्फ़ की आकृतियाँ यथार्थ भी हो

सकती हैं (हेत्वाभास–धिक्) हेत्वाभास ही सही, मगर सिकन्दर उसी तरह चेहरा सख्त किए था, स्त्री उसी तरह तरल थी और पुरुष उसी तरह आँखें मूंद स्थिर-प्रज्ञ था। एक देवदार की डालें रास्ते तक झुक आई थीं, जैसे उसे किसी के स्पर्श की कामना है। मैंने देवदार की डालों को छड़ी से सहलाया–डालें कोमल बांहों की तरह ललक गईं।

'हलो!' मैंने कहा।

'सांय–सांय!' देवदार ने उत्तर दिया।

'बुड्ढे हो गए तुम भाई, अब भी रास्ते से छेड़खानी करते हो? तुम्हारी बांहें अब भी व्याकुल होकर नीचे को झुकती हैं?'

देवदार ने जोर से सांय–सांय किया जैसे कहता है कि बुड्ढे होगे तुम! मैंने तो अभी अपनी उम्र के दो सौ साल ही काटे है–मेरे अभी चार सौ साल शेष हैं– अभी अपने यौवन के प्रथम चरण में हूँ–तुम जो आधी खा चुके हो, मुझे बुड्ढा कहते हो?

'अच्छा भाई, न सही–मैं तुमसे बड़ा सही–बड़े के अधिकार से कुछ कह ही दिया तो क्या हुआ? बुरा नहीं मानते।'

देवदार ने फिर सांय–सांय किया और कहा,'आए बड़े बनने वाले। ज़रा अपनी–ऊँचाई देखो। कहाँ से बड़े हैं आप?'

'अच्छा भाई तुम्हीं जवान भी हो, बड़े भी हो, हम कुछ नहीं हैं–हम हर तरह से तुमसे हीन हैं। अब तो प्रसन्न हो?'

मुझे नाराज़ देखकर देवदार ने फिर ज़ोर से डालें हिलाईं और कहा कि 'प्यारे, तुम भी एक बात में बड़े हो–तुम जाने कहाँ से आए हो और कहाँ जाओगे और मुझे देखो जहाँ का तहा जकड़ा खड़ा हूँ, इस जगह से ज़रा भी हिल नहीं सकता।'

और अपने बड़प्पन से प्रसन्न होकर मैं चल दिया।

पुल सामने था। झुटपुटा हो चला था। एक युवती (या शायद नवयुवती) दौड़ती हुई दूसरी तरफ से आई।

'जय हिन्द!' वह मुस्कराई।

'जय हिन्द।'

'घूमने को गया?'

'हाँ, घूमकर आया।'

'पहाड़ देखा?'

'देखा।'

'क्या देखा? यह तो नीचे-नीचे ही देखा, पहाड़ तो ऊपर है। ऊपर का पहाड़ देखेगा?'

'ऊपर का पहाड़?'

'हाँ देखो। हम अभी ऊपर जाता है।'

वह जल्दी से सामने की पगडंडी पर चढ़ गई और न जाने कैसे पत्थरों पर पैर रखती हुई सीधे पहाड़ पर चढ़ने लगीं मैं सड़क पर खड़ा उसकी ओर देखता रहा।

'आओ।' उसने ऊँचे से मुस्करा कर कहा और काफी दूर और चढ़ गई। वहाँ से उसने केवल हाथ हिलाया और ऊपर चली गई। यहाँ तक कि अँधेरे में उसकी आकृति भी गुम हो गई। मैं कुछ क्षण खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे चलने लगा। पुल पर पहुँचकर फिर दरिया को देखने लगा जो पुल तोड़ने के लिए व्याकुल था। तभी

धम-धम पुल पर पैरों की आहट हुई और जैसे आसमान से टूटकर वही युवती (या नवयुवती) दौड़ती हुई पास से निकल गई। 'हाह!' उसने पास से गुज़रते हुए कहा और हाथ पर हाथ मारा— और क्षण भर में ही वह इधर के पत्थरों के बीच गुम हो गई।

मैंने पुल पार किया और मार्केट की तरफ जाने वाली सड़क पर चढ़ने लगा।

बरामदे की खिड़की से देवदारों का घना जंगल दिखाई देता है। अभी-अभी हल्की-हल्की बूँदें पड़ रही थीं। बूँदें पड़ती हैं तो जैसे आकाश को एक आकार मिल जाता है—उसमें प्राण आ जाते हैं। अब हल्की-हल्की धूप है जो देवदारों की हरियाली का हल्का सुनहरी स्पर्श दिए दे रही है। बाईं ओर से आती हुई हवा शरीर को सहला रही है। नाले के पानी से खेलते हुए मैंने अनुभव किया था कि पानी के स्पर्श में भी एक मांसल सिहरन होती है—इसीलिए छड़ी की नोक से उसे ज़रा-ज़रा छेड़ता रहा था। अब यहाँ बैठे हुए लगता है कि हवा के स्पर्श में भी कुछ ऐसा है जो स्थूल और sensous है (obsession?) सोचता हूँ, क्या मुझे छूकर हवा को भी पुलक का अनुभव होता है।

कमरे की खिड़की से जीवन का बहुत बड़ा कैन्वस दिखाई देता है। ग्लेशियर की बर्फ़ के आधे भाग पर बादल की छाया पड़ रही है, जिसने उसे सुरमई-सा रंग दे दिया है। आधे भाग में धूप पड़ रही है और बर्फ़ की चमक आँखों को चुंधियाए देती है। बादल धीरे-धीरे सरक रहा है और वहीं सफेदी पर सुरमई पर्दा चढ़ रहा है और वहीं से वह उतर रहा है और सफेदी बाहर फूट रही है।

मुझे जो कुछ भी अनुभव होता है, मैं किसी के प्रति सम्प्रेषित करना चाहता हूँ—परन्तु वह 'वह' कौन है? कहां है?

डलहौजी : 21.8.57

कई दिनों से आकाश में पुच्छल तारा (धूमकेतु) दिखाई दे रहा है। सड़क पर चलते हुए लोग रुककर उसे देखने लगते हैं। फिर चलते हैं, फिर रुक जाते हैं और फिर देखने लगते हैं। कहते हैं कि जब-जब यह तारा दिखाई देता है, कोई-न-कोई विपत्ति आती है, युद्ध होता है, भूकंप आता है या तूफान आते हैं। लोग टोलियाँ बाँधकर इस बात की चर्चा करते हैं कि आज दुनिया भर में हो रही अतिवृष्टि और सब जगह फैल रही बीमारी का कारण यह पुच्छल तारा ही है।

हम लोग भी आज ठंडी सड़क के एक कोने पर खड़े होकर उस तारे को देखते रहे। पुच्छल तारे से कुछ उधर शुक्रतारा चमक रहा था और उसके कुछ ही पीछे एक और तारा। आकाश साफ होने के कारण दूर-दूर तक बिखरे हुए असंख्य तारे अपनी हल्की-हल्की लौ में टिमटिमाते प्रतीत हो रहे थे। दायीं ओर आकाश-गंगा का विस्तार था। असंख्य तारक मंडल को देखते-देखते बुद्धि पथराने लगीं कितना अच्छा था वह ज़माना जब इन्सान यह विश्वास करके जी लेते थे कि ये तारक केवल कुछ आत्माएं हैं, जिनके उज्ज्वल कर्मों ने उन्हें आकाश में जगह दे दी है। बचपन में हम भी इस विश्वास से चालित थे। बड़े हमें झुठलाते थे, पर हम सच्चे हृदय से मानते थे कि अमुक तारा हमारी परनानी का है, अमुक तारा हमारे बाबा का है और अमुक देवीदयाल मामा का। जब मामी की मृत्यु हुई थी, तो हम आकाश में उसका तारा ढूंढ़ते रहते थे, क्योंकि उसकी सच्चरित्रता के कारण हमें तो सन्देह ही नहीं था कि आकाश की बिदादरी में उसे निश्चित स्थान प्राप्त हुआ होगा।

परन्तु कुछ भ्रम अध्यापकों ने तोड़ दिए, कुछ वैज्ञानिकों की छानबीन ने और आज हम पहले से कहीं अबोध हैं, क्योंकि यह विश्वास करने के लिए मजबूर हैं कि हर तारा एक दुनिया है—और इस दुनिया से

कहीं बड़ी दुनिया—कई बार कई हज़ार गुना बड़ी दुनिया। और इतनी दुनियाओं का यह विश्व क्या फिर भी एक सूत्र, एक ही निर्मातृ शक्ति द्वारा चालित है—वह शक्ति अपने प्रति चेतन हो चा अचेतन।

"It is too much! How to stand the feeling of such vastness and such multitude?"

बार-बार यह exclaim करते हुए आगे चल दिए। मन बहुत उदास हो गया। इतनी इतनी दुनियाएँ—और हमारी चिरन्तन और शाश्वत सत्य सम्बन्धी बातें। कितनी नगण्यता है? ❑

मोहन राकेश की प्रमुख रचनाएँ

नाटक

1. आषाढ़ का एक दिन, 2. लहरों के राजहंस, 3. आधे अधूरे, 4. पैर तले की ज़मीन (अधूरा नाटक जिसे कमलेश्वर ने पूरा किया) इसके अतिरिक्त कुछ एकांकी तथा बीजनाटक।

कहानी संग्रह

1. इन्सान के खण्डहर, 2. नये बादल, 3. जानवर और जानवर, 4. फौलाद का आकाश
इन संग्रहों में प्रकाशित पचास कहानियों को लेखक ने जीवन काल में ही नया संयोजन देकर निम्न चार संग्रेहों में पुनः प्रकाशित करवाया :
1. आज के साये, 2. रोयें रेशे, 3. एक एक दुनिया, 4. मिले जुले चेहरे

उपन्यास

1. अंधेरे बंद कमरे, 2. न आने वाला कल, 3. अंतराल

विविध

1. आखरी चट्टान तक (यात्रा)
2. मोहन राकेश की डायरी

त्रिलोचन के गीत

❑ डॉ0 रेवती रमण

हिन्दी साहित्य की कई विधाओं में उल्लेखनीय सादगी और सफलता के कारण अक्सर यह तय करने में कठिनाई होती है कि त्रिलोचन की अभिव्यक्ति का मूल स्वरूप क्या है? उनके सौनेटों की संख्या और काव्यात्मक स्तर को देखते हुए कई आलोचकों ने उसे ही उनका मुख्य काव्य-रूप मान लिया है। इसमें बुराई कुछ नहीं है, लेकिन देखना यह है कि त्रिलोचन की ग़ज़ले और रुबाइयाँ भी हमारे लिए विजातीय नहीं हैं और कमोबेश यही स्थिति उनके गीतों की भी है।

त्रिलोचन के गीतों के अध्येता के लिए यह अनुभूति पर्याप्त सुखद और स्फूर्तिप्रद हो सकती है कि एक ठहरे हुए काव्य-रूप को गिने-चुने समवयस्कों के सहयोग से उन्होंने प्रगति का रास्ता दिखाया है। कहा जा सकता है कि त्रिलोचन और जानकीवल्लभ शास्त्री ने हिन्दी गीत की परम्परागत रूढ़ियों को ध्वंस करने के लिए निराला के अनुभवों से लाभ उठाया है। उनका प्रयास लगातार इसी दिशा में रहा कि गीत को मात्र आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति का माध्यम न समझा जाए और यदि वह आत्माभिव्यंजना ही हो तो भी एक वृहत्तर शिक्षित समुदाय को अपने से बाहर देखने-समझने का आमंत्रण दे।

डॉ0 प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है कि "गीत का भावपरकता से स्वाभाविक सम्बन्ध है। कवि पर गीतिमत्ता का दबाव जितना अधिक होता है, उतना ही उसका जीवनानुभव, चिन्तन और लक्ष्य आवेग से आच्छन्न हो जाता है। इससे आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही नहीं उपजती जो प्रेक्षण, अनुभूति और कल्पना की निःसंग शल्यक्रिया करती है। भावबोध के साथ मूल्यबोध की दोहरी चेतना, जो कारण की जटिलता का अन्वेषण करती है, गीत की अभिवृत्ति नहीं है। इसीलिए गीतकार प्रायः उद्वेग, आकर्षण, लालसा, मनस्ताप, करुणा आदि की काल्पनिक अनुभूति से ग्रस्त रहता है। गीत के रूपतन्त्र से मुक्त हुए बिना, किसी कवि के लिए काल्पनिक अनुभूतियों के दबाव से मुक्त होना प्रायः संभव नहीं होता" (काल यात्री है कविता, पृष्ठ—119)।

डॉ0 श्रोत्रिय की उपर्युक्त पंक्तियाँ जिन कवियों पर लागू होती हैं, त्रिलोचन या जानकीवल्लभ शास्त्री उनमें से नहीं हैं। अर्थात् त्रिलोचन और जानकीवल्लभ शास्त्री जैसे गीतकारों ने गीत के परम्परागत शिल्प में ही अपने सच के साथ-साथ युग का सच सफलतापूर्वक लिखा है। गीत का रूपतन्त्र उन्हें अक्षम नहीं लगा। यह शायद इसलिए कि उनकी कवि प्रकृति ही प्रेमगीतात्मक है। इन दोनों गीतकारों की रचना-प्रक्रिया में एक भीतरी समानता यह है कि ये अपने से जोड़कर ही चीज़ों का, काव्य-वस्तु का रंग-रूप सँवारते हैं। लौकिक स्तर पर दोनों के शब्द-संयोजन में कोई विशेष फ़र्क नहीं है। लेकिन भावपक्ष की परिणति को लेकर जानकीवल्लभ शास्त्री निराला के अर्चना-आराधना वाले भक्त-रूप से जुड़ते हैं। उनकी प्रतिनिधि चिन्ता प्रेम भावुकता को दार्शनिक

तल पर पहुँचाकर गीत-संगीत को आध्यात्मिक उपलब्धि में ढाल देती है। यह एक तरह से मध्यकालीन सन्त-भक्त कवियों की रचना-पद्धति है। दूसरी ओर, त्रिलोचन भौतिकवादी-यथार्थवादी दिखने के प्रयास में रोमैण्टिक भाव-बोध के अन्तर्गत ही सन्तुष्ट हो लेते हैं। उनके गीत आन्तरिक ज़रूरत होने का कम आभास नहीं देते पर जानकीवल्लभ शास्त्री का-सा निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त आत्मालाप वे नहीं लिख पाये।

संक्षेप में, त्रिलोचन—गीतकार त्रिलोचन की उपस्थिति छायावादी कवियों की त्रयी की रचनाशीलता के शिखर-संस्पर्श के समय ही महसूस की जा सकती है। यह प्रगतिवाद अर्थात् भक्ति-आन्दोलन के समान ही एक नये प्रतापी काव्यान्दोलन का दौर था, जब सामाजिक-आर्थिक वैषम्य और साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के ख़िलाफ जनता के संघर्ष में हिन्दी का जातीय छन्द अस्त्र और प्रयोजन की तरह प्रयुक्त हो रहा था और साहित्यिक, शुद्ध साहित्यिक गीतों का एक तरह से अकाल ही पड़ चुका था। तब 'दस हफ्ते दस साल हो गये, मास्को अब भी दूर है' और 'चली आ रही है बढ़ी लाल सेना' के साथ 'जला दे जीर्ण-शीर्ण प्रचीन' का माहौल इतना गर्म हो चला था कि कहना चाहिए 'तुमुल कोलाहल कलह' था और 'हृदय की बात' कहने-सुनने का किसी को अवकाश न था। इस माहौल में निराला जी भी 'स्नेह निर्झर' बहाने से ज्यादा 'तू कभी न ले दूसरी आड़ शत्रु को समर जीते पछाड़' लिखने लगे थे। दरअस्ल, यह घोषणा भी उन्हीं की थी कि 'आज अमीरों की हवेली गरीबों की होगी पाठशाला' त्रिलोचन की 'धरती' के गीत इसी दौर के साक्षी बने दिखते हैं। 'धरती' की पहली रचना गीत ही है, जिसका आरंभ इस प्रकार होता है—

मुझे जगत् जीवन का प्रेमी बना रहा है प्यार तुम्हारा
मेरी दुर्बलता को हरकर, नयी शक्ति नव साहस भरकर
तुमने फिर उत्साह दिलाया कर्म क्षेत्र में बढ़ूँ सँभलकर
तब से मैं अविरत बढ़ता हूँ, बल देता है प्यार तुम्हारा।

देखा जाए तो यह छायावादी कथ्य है जिसे प्रगतिवाद का कवि द्विवेदी युग की भाषा में लिख रहा है। प्रेमिका छायायुग में कवियों को लगातार कर्मण्यता की सीख देती आ रही थीं त्रिलोचन की कविता में भी वही जीवन की लय जगाती हैं, कवि को धरती का अनुरागी बनाकर निर्भय संघर्ष-पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देती है। यह प्रेमिका की ही प्ररेणा है कि कवि जीवन के स्वर सुनता है, जीवन के गान लिखता है, वह युग जीवन का अनुयायी भी इसीलिए बन सका है।

निराला के यहाँ भी प्रेमिका-पत्नी कवि के क्लासिक व्यक्तित्व के कारण प्रायः लौकिक का अतिक्रमण कर आध्यात्मिक ऊँचाई के संस्पर्श में सहायक बनती है। 'तुम्हीं गाती हो अपना गाना व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान'—'यह मात्र विनम्रता-प्रदर्शन की औपचारिकता नहीं है, बल्कि घनानन्द के लोग हैं लागि कवित्त वनावत। मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' के यथार्थ से भी जटिल विन्यास है। बहुत कुछ यही आध्यात्मिक स्तर पर जानकीवल्लभ शास्त्री की स्वीकृति की भी प्रेरणा है। 'मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ, जग मेरी वाणी कहे'—त्रिलोचन के गीतों में ऐसी जटिलता नहीं है।

त्रिलोचन का गीतकार साधनाप्रदत्त औदात्य नहीं, ज्यादातर सरल-तरल लिखने का अभ्यास करता है। उनके गीतों में बहुत विश्वसनीय ढंग से, ठेठ लौकिक स्तर पर जीवन की गहमागहमी है, दृष्टि और संवेदना की समन्वित आपधापी है। अर्थात् समस्या इकहरी है, समाधान सरल हैं। वहाँ मनोरागों की ग्रन्थिल विडम्बना नहीं, एक सरल शिशु मुस्कान है, प्रेममय आवरणमुक्त शुभ्र सरस स्मृति—

आज सुन स्वर में तुम्हारे गीत अपने याद आए
याद आए भूल मैं जिनको चुका था। मधुर सपने
देख-देख भरे नयन के भाव। भाव वे जिनमें
न रंच दुराव या बिलगाव (धरती, पृष्ठ–39)

Hira Lal Thakur
BADAH P.o. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

गीत बन जाते हृदय के भाव। गीत बन जाते
तोड़ बन्धन और बाधा। गीत ये फिर-फिर उमड़ते
उड़ स्वरों के पंख फिर। वर्ण भास्वर गगन जाते
जब नयन में रूप आता, रंग आता। तब तरंगित
हंस मानस छोड़ उड़ते। नील नभ को पार करते (पृष्ठ –68)

त्रिलोचन के हृदय के भाव सीधे गीत बन जाते हैं। उनकी रचना-प्रक्रिया में कला की कोई बाधा नहीं, विशिष्ठ दिखने की कोई ललक नहीं, वे प्रत्यक्ष ही हृदय छन्द हैं। अर्थात् गीत के लिए जो भावभूमि अपेक्षित है, गीतकार त्रिलोचन उसी पर स्थित हैं। प्रेम और सौन्दर्य की विविधा से इस भावभूमि का गहरा सरोकार है। त्रिलोचन रोमैण्टिक भावबोध को लक्षणा नहीं, अभिधा में व्यक्त करते हैं। उनकी काव्य भाषा चित्रभाषा नहीं, विवरण की भाषा है। यह उनकी कमजोरी नहीं, साहस और शक्ति का प्रमाण है। वे आधुनिक कहे जाने के लिए लालायित नहीं हैं। सहजता उनकी सामर्थ्य है, जिससे वे विद्रोह की प्रेरणा लेते हैं। भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि 'नया गीत लिखने का मन है, तब तू काट पुराना बन्धन'। त्रिलोचन नया गीत लिखने के लिए पुराने बन्धनों का जीवन और काव्य दोनों में विरोध करते हैं। गीत उनके लिए इसीलिए कोरी लफ्फाज़ी नहीं, उन्होंने गला साफ करने के क्रम में नहीं लिखे, कल्पना की एक जागती हुई सजीव दुनिया वे अपने गीतों में संभव करते हैं। उनके स्वरों में पंख लगे हैं, किन्तु ये पैर जमीन पर ही रखते हैं। त्रिलोचन के गीतों में कल्पनाशीलता काल्पनिक यथार्थ पर नहीं हमारे इसी संसार की विविधता पर आधारित है।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"कल्पना और कल्पनाशीलता में बड़ा भारी अन्तर है। सच्ची कल्पना युक्ति, संयम और सत्य के सुनिर्दिष्ट आकार में बँधी होती है। काल्पनिकता में सत्य का आभास मात्र होता है, लेकिन वह अद्भुत अतिरंजना से असंहत रूप में फूली हुई होती है। उसमें जो थोड़ा-बहुत प्रकाश होता है, उससे सौ गुना ज़्यादा धुआँ होता है। जिनमें क्षमता कम होती है, वे प्रायः साहित्य की इसी धुआँ देती हुई काल्पनिकता का सहारा लेते हैं, क्योंकि वह देखने में विराट् होती है, इसीलिए सचमुच में बहुत छोटी होती है। (बंकिमचन्द्र शीर्षक लेख, रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, भाग–1, पृष्ठ-443)

त्रिलोचन धुआँ देती हुई काल्पनिकता के नहीं, सच्ची कल्पना शक्ति के स्वामी हैं। इसीलिए उनके गीतों में युक्ति, संयम और सत्य का सुनिर्दिष्ट स्थापत्य मिलता है। वे बड़ी क्षमता के गीतकार हैं, अतः उनकी कल्पना अतिरंजना पर आधारित नहीं है। उसमें एक प्रकाश है, जातीय स्मृति का—

गान बनकर प्राण ये कवि के तुम्हारे पास आए
सौ लहर से पास आये। तुम इन्हें चाहो न चाहो

(सबका अपना आकाश, पृष्ठ–24)

स्निग्ध श्याम घन की छाया है। ग्रीष्म पन्थ पर याद तुम्हारी

(वही, पृष्ठ–49)

नदी किनारे सन्ध्या वेला। खोया-सा मैं कहीं अकेला
रहता हूँ तब हवा साँझ की, दे-दे कुछ अवसाद जाती
मुझे तुम्हारी याद आती—

(धरती, पृष्ठ—118)

ऐसा लगता है, त्रिलोचन के लिए जीवन कुल मिलाकर एक स्मृति-पथ है, जिस पर उनकी मान्यता है कि सभी को चलना पड़ता है—एकाकी—असंग। यह कोई प्रगति विरोधी वक्तव्य नहीं, एक निर्विकल्प, निर्व्याज हकीकत है।

त्रिलोचन ने जीवन को नंगे उजास में देखा है, भोगा है और प्रतिकूलता से निबटने के लिए ही साम्यवाद का रास्ता अपनाया है। उन्हें जीवन समग्रता में प्यारा है। उनकी भावुकता को गौरवान्वित करने वाला यह मूल द्रव्य उन्हें प्रकृति और मनुष्य के पास भी ले जाता है। त्रिलोचन ज्यादा घोल-मेल नहीं करते, वे ज्यों का त्यों रख देते हैं दृश्यों को गीतों में—

हरा भरा संसार है आँखों के आगे
ताल भरे हैं। खेत भरे हैं। नई-नई बालें लहराये
झूम रहे हैं। धान हरे हैं। झरती हैं भीनी मंजरियाँ
खेल रही हैं लोल लहरियाँ। जीवन का विस्तार है
आँखों के आगे।

(सबका अपना आकाश, पृष्ठ—17)

खिल रहे फूल, हँसते उपवन।
जीवन ही जीवन भरा भुवन
अनिवार्य निरन्तर आह्वान
सुनता रहता हूँ कुछ निःस्वन
द्यावा पृथिवी के कण-कण का
अग-जग का प्रेरक संजीवन

त्रिलोचन के गीतों में प्राकृतिक दृश्य मनोरम हैं, ठीक निराला के वसन्त-वर्णनों के समान। कोई चाहे तो उन्हें एकांगी और एक पक्षीय भी कह सकता है, लेकिन इस आरोप को निरस्त करने वाला जो एक अचूक तत्व है, इन गीतों में वह भावनाओं का तीव्र आवेग है, यह मौलिक है, अनूदित या अनुकृत में ऐसी तीव्रता नहीं होती—

धूप सुन्दर। धूप में जगरूप सुन्दर। सहज सुन्दर
व्योम निर्मल। दृश्य जितना। स्पृश्य जितना
भूमि का वैभव तरंगित। रूप सुन्दर। सहज सुन्दर

चाँदनी चर्चित। परम प्रार्थित। समर्पित
स्नेह-सी यह रात। स्तब्ध नीरव रात
क्षितिज है संकीर्ण। कुहरे में सघन अवरुद्ध

दिन जैसा नहीं विस्तीर्ण। वस्तुओं का रूप
अब तो और कुछ है

(धरती, पृष्ठ—87)

प्रकृति का स्वस्थ , सुन्दर और मांसल वर्णन त्रिलोचन की विशेषता है। उसमें एक नैसर्गिक खुलापन और सादगी है। नयी बात कहने की गरज़ से त्रिलोचन प्राकृतिक उपादानों का विरूपीकरण नहीं करते, जैसा आधुनिकतावादी कवियों ने जोश में आकर किया है। आधुनिकतावाद की विसंगतियों से चिलोचन के प्रगतिशील अग्रज केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन भी पूरी तरह नहीं बच सके हैं, लेकिन त्रिलोचन ने कई बार इस तरह बचाया है, जिस तरह आधुनिकतावाद से अरुचि रखनेवाला बचा सकता है। देखिए त्रिलोचन के कतिपय जीवन्त प्रकृति-दृश्य—

चल रही हवा धीरे-धीरे। सीरी-सीरी
उड़ रहे गगन में झीने-झीने। कजरारे चंचल बादल
छिपते-छिपते जब तब तारे उज्ज्वल झलमल
चाँदनी चमकती है। गंगा बहती जाती है

(धरती, पृष्ठ—30)

नावें चलती हैं तने पाल। तटभूमि हरित, निर्मल
विशाल। कुछ जुते खेत कृषि अंक माल। श्रमशील
पिपुल मानव समूह कर बलशाली बहती है गंगा
लहराती लहरोंवाली—

(धरती, पृष्ठ—35)

राका आयीं शारदा उतर आयीं स्मिति की ज्योत्स्ना
छायीं चन्द्रमा व्योम में मुस्काया। सागर में इधर
ज्वार आया। तारे हैं उधर इधर पर्वत।
चाँदनी खेलती है भू पर

(सबका अपना आकाश, पृष्ठ—13)

प्रकृति गीतों के साथ-साथ त्रिलोचन ने बहुत से ऋतुगीतों की भी रचना की है। उनके ये ऋतुगीत ज्यादातर वसन्त और पावस को उपजीव्य बनाकर लिखे गये हैं। वसन्त के प्रति कवि आकांक्षा से भरा है, उसका स्वागत करता है। अपनी भावनाओं का प्राकृतिक उपदानों पर प्रक्षेपण करते हुए, कवि प्रकृति को भी वसन्त की प्रतीक्षा में पलक-पाँवड़े बिछाये चित्रित करता है। लगभग यही ढंग निराला जी के भी वसन्त-गीतों का है। पावस-वर्णन में एक जगह त्रिलोचन जी ने संगीत-कला का भी सहारा लिया है—

बरखा मेघ मृदंग थाप पर/लहरों से देती है जी भर
रिमझिम-रिमझिम नृत्य-ताल पर/पवन अधिर
आए/दादुर, मोर, पपीहे बोले/धरती ने
सोधे स्वर खोले-मौन समीर तरंगित हो ले

त्रिलोचन को शरद का नीला आकाश इतना प्रिय है कि उसे वे सबका अपना आकाश कहना चाहते हैं। शरद के बहाने उनके अनुभूति-क्षेत्र का विस्तार सूचित हुआ है—

भरी है पारिजात की डाल। नयी कलियों से मालामाल
कर रही बेला को संकेत। जगत में जीवन हास हुलास
चोंच में चोंच ग्रीव से ग्रीव। मिलाकर, होकर
सुखी अतीव। छोड़कर छाया युगल कपोत।
उड़ चले लिये हुए विश्वास

(सबका अपना आकाश, पृष्ठ—15)

त्रिलोचन के गीतों में नवगीत की कृत्रिमता नहीं है। आधुनिकतावादी प्रश्नाकुल मुद्राओं से बचकर स्थिर चित्त से त्रिलोचन ने आत्मा का राग अलापा है। उनकी काव्यभूमि किसान-मज़दूर के जीवन से संबद्ध रही है, उनकी नैसर्गिक जीवन-चर्या और परिवेश का त्रिलोचन ने सहज चित्र खींचा है। त्रिलोचन उन कवियों में नहीं हैं, जो शहर में स्थायी रूप से बस जाते हैं और प्रगतिशीलता की होड़ में यदा-कदा गाँव का स्मरण कर लेते हैं। गाँव त्रिलोचन का काव्य संस्कार है। उनके ग्रामीण संस्कार का सबसे अच्छा परिचय उनके गीत ही देते हैं।

त्रिलोचन इस शताब्दी के उन चुने हुए गीतकारों में से हैं जो शरीर से ही नहीं, मन से भी पूरी तरह यायावर हैं। ये लगातार देश के इस कोने से उस कोने तक घूमते रहते हैं। भ्रमण के दौरान उन्हें एकान्तवास भी करना पड़ता होगा। एकाकीपन का चुभता हुआ दर्द उनके गीतों में अविकल तो नहीं रह पाता, लेकिन जो अपरिचित के लिए भी उनके गीतों में हृदय के द्वार खुले होने की बात कही गई है, उसका कारण यही है—

खुले तुम्हारे लिए हृदय के द्वार। अपरिचित पास आओ
झिझक छोड़ दो। जाल तोड़ दो, तज मन का जंजाल
जोड़ दो। मन से मन जीवन से जीवन। कच्चा कलुषित
पात्र फोड़ दो—

यह जो जोड़ने का आग्रह है, कहीं मूल से टूटने के कारण है। त्रिलोचन टूटने के अहसास को गीतों में जुड़ने के भाव में बदल देते हैं, तब उनके गीत आत्मालाप होने पर भी उद्बोधन और अह्वान के स्वर में बदल जाते हैं। लेकिन कई बार ऐसा नहीं भी होता, जैसे इस गीत में—

नदी किनारे सन्ध्या वेला। धोया-सा मैं कहीं अकेला
रहता हूँ तब हवा साँझ की दे-दे कुछ अवसाद जाती
मुझे तुम्हारी याद आती

लेकिन त्रिलोचन एक जनकवि हैं, वे आशा की डोर छोड़ते नहीं—'अन्धकार में देख रहा हूँ जीवन की बनती रेखाएँ'— लिखकर वे अपनी जीवनधर्मिता की परम्परागत लीक पर सुदृढ़चरण आगे बढ़ने का संकेत देते हैं।

जीवन का अनुभव कई बार उन्हें दार्शनिक भी बना देता है। उनके गीतों में जगह-जगह आशा-निराशा का द्वन्द्व है तो इस द्वन्द्व में अन्ततः आशा की विजय ही निश्चित हुई है—

'मौत यदि रुकती नहीं तो जन्म ही रुकता कहाँ है' के दृष्टान्त के साथ उनका उद्बोधन है—

यदि तुम्हारे वक्ष में है साँस। बाँहों में भरा बल
काल सरिता की लहर पर आँक दो गतिचित्र निर्मल

(धरती, पृष्ठ—109)

तुम्हें पुकार रहा है कोई। अभी तुम्हारी शक्ति शेष है
अभी न मरण प्रिया दुर्बलता। मत ललचाओ मत चुप बैठो।

इस शताब्दी के संघर्षशील मनुष्य को उद्‌बोधन देने के लिए त्रिलोचन ने सौ से ज़्यादा गीत लिखे हैं। उन में कवि की वैचारिक दृढ़ता अपूर्व है। इसीलिए भाषा में भी लोच की अपेक्षा सादगी और सफाई है। त्रिलोचन उत्पादन के कार्य में लगे लोगों के प्रिय कवि हैं। उनके भविष्य के उज्ज्वल सपने देखने वाले कवि हैं, अतः आह्वान करते हैं—

साँस-साँस से लहर-लहर से
और पास आओ लहराओ।

उनका यह आह्वान कुछ इस तरह से है कि 'आओ, मैं भी इसी राह पर चल पड़ा हूँ।' यह शब्द की नैतिकता का उदाहरण है, कर्म मार्ग से मुँह चुराने वाले कवियों के हिस्से यह सादगी नहीं मिलेगी।

त्रिलोचन की काव्य-भाषा पर अनगढ़ता का आरोप किया जाता है। उसकी यह अनगढ़ता साधन-संपन्न कृषक पत्नी की बहुमूल्य वस्त्राभूषणों के प्रति बरती गई समयाभावजन्य अनवधानता के कारण है। यह सही है कि त्रिलोचन ने कलागीत नहीं लिखे, जैसे महादेवी वर्मा आदि ने लिखे हैं। लेकिन देखना यह है कि उनकी क्षमता कलागीत लिखकर प्रमाणित तो होती, प्रयोजन धर्मी नहीं हो सकती थी। एक बड़े उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रतिभाशाली कवि जब 'स्वान्तः सुखाय' न रचकर लोकहित को ही प्राथमिकता देता है, तब वैसे ही गीत लिखता है। त्रिलोचन के गीतों की भाषा वर्णनात्मक काव्य के उपयुक्त होने पर भी बेजान नहीं है। उन्होंने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' से भाव ग्रहण करते हुए एक जगह लिखा है—

कल्पना रूप धरकर आयी रूप में मोहिनी भर लाई
भाव स्थिर जननान्तर सौहृद। वाणी निर्जन में
लहराई। रमणीय रूप मधुगीत लहर। पर्युत्सुक मन में गये
ठहर—

"रम्याणि वीक्ष्यमधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः। तच्चेतसा स्मरति नूनम्‌बोध पूर्व भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।" (अभिज्ञान शाकुन्तलम् पंचमोअंक—पृष्ठ—73)।

त्रिलोचन के गीत पढ़कर सहसा मन उदास हो जाता है, यह सोचकर कि हमारे समय में गीत की ऐसी प्रतिभा अब नहीं दिखायी देती। ■

ब्रीफकेस

❑ इसाक बाशेविस सिंगर

अनुवाद : इंदुप्रकाश कानूनगो

लगातार हड़बड़ी अजीब अमेरिकन रोग है। यहाँ आ बसा विदेशी, मैं, भी उसका शिकार हूँ, कई बार जल्दबाजी में नाम कोहन यही भूल जाता। हमेशा उतावली, सोया हूँ तब भी।

उस जाड़े में अखबार में कॉलम लिखा, पुस्तकें लिखीं, यहाँ-वहाँ भाषण देने गया और मिडवेस्टर्न युनिवर्सिटी में साहित्य का विज़िटिंग प्रोफेसर बनना भी मंजूर कर लिया। यों हर दूसरे हफ्ते केवल दो दिन वहाँ बिताता, फिर भी किराये का अपार्टमेंट ले टेलीफोन फिट करवाया। युनिवर्सिटी में मेरे ऑफिस के कमरे में लगा ही था। दोनों फोन खड़खड़ाते रहते। ऑफिस का या घर का दरवाजा खुलते शोरगुल भरा मिलता। प्रोफेसर लोग जान-पहचान बढ़ाना चाहते, उनकी पत्नियाँ रात के या दिन के खाने का न्यौता देतीं, विद्यार्थी पेपर पढ़ने को कहते, अखबारनबीस मुलाकात करना चाहते, स्थानीय यहूदी समुदाय के सदस्य अपने केंन्द्र पर भाषण की तारीख माँगते।

ना कहना नहीं जानता, सभी को हाँ कह देता। जेब में रखी छोटी-सी नोटबुक टेलीफोन नम्बरों और पतों से ऐसे भरी होती खुद अपना ही लिखा नहीं पहचान पाता। मेनहटन में अपार्टमेंट था और अखबार-के आफिस में चैम्बर, डाक और पुस्तकें चारों पते पर आतीं। हर कहीं कागज़ों के इतने पुलन्दे इकट्ठे हो जाते, पढ़ने की फुर्सत नहीं रहती। कई बार लिफाफे ही नहीं खुलते। मुझ जैसे दूसरे लोग सेक्रेटरी रखते लेकिन मैं एक ही जगह नहीं रहता। और फिर, स्त्रियों संग अपने अजीब संबंधों को जगजाहिर करना नहीं चाहता। कुँवारेपन के लम्बे दौर में मैंने जानी-अनजानी अनेक स्त्रियों का एक अदृश्य हरम रच लिया था। सभी को विवाह का वचन दिया। कुछ तो डील-डौल ठीक-ठाक बनाये रख अभी तक जवान हैं, पर बाकी बूढ़ी हो गयीं। एक को कैंसर हो गया। बहुतों ने विवाह कर लिया—कुछेक ने दूसरी या तीसरी बार भी। उनकी लड़कियाँ मुझे सौतेला पिता मानती। उनके जन्मदिनों और वैसे ही दूसरे अवसरों पर बधाई और तोहफे अपेक्षित रहते। कइयों को टालता, रातों में अपराधी महसूस करते नींद उचट जाती। प्रायः टेलीपेथी से बातें करता, उनकी ओर से भी रेस्पांस मिलता। चिट्ठियों, टेलीफोन-संदेशों और प्रत्यक्ष मुलाकातों की जगह टेलीपेथी, परा दृष्टि और पूर्वाभासों ने ले ली। सबको धुतकारता लेकिन सभी स्त्रियाँ मुझ पर प्यार बरसातीं। शायद—कम से कम अपने ख़्यालातों ही में—उनके प्रति अभी भी ईमानदार था। सोने के पहले, उनके लिए दुआ माँगता।

उसी जाड़े की फरवरी, हफ्ते भर फुर्सत मिल गयी। जहाँ भाषण देना था केलिफोर्निया की उस धर्मसभा

के रब्बी का एकाएक देहांत हो गया, सो मीटिंग की तारीख बढ़ गयी। जैसे ही पता चला सोचा क्यों न रील के संग छुट्टियाँ बिताऊँ। कल रात ब्रांक्स में साथ थी। हवाईजहाज दोपहर तक उड़ान भरता पर छह बजते उठ बैठा। रील की बीमार माँ, ली हिन्डा, देर तक सोती। रील ने नाश्ता बनाया। आठ बजे घर पहुँचा और देखा दरवाजे में तार टँगा था सभा मुलतवी हो गयी।

जब रील से विदा ली शिकायत करते बोली, "पहले कई-कई दिन ठहरते। आजकल एकाध रात बाद ही चल देते हो।"

लो, इस बार पूरा हफ्ता खाली है!

पहले, सोफे पर लेटकर टूटी नींद पूरी करने लगा। थियेटर से रात एक बजे लौटे थे। टेलीफोन खनखनाया, उसे बजने दिया। सूप की एक खुराक के लिए अपना मूल अधिकार बेचते एजाऊ के शब्द याद आये, सुनो, बस मरने ही तो जा रहा हूँ: क्या अर्थ है मूल अधिकार का मेरे लिए? जिस तरह का जीवन बिताया, लगा, आहिस्ता-आहिस्ता खुदकुशी करता रहा हूँ। ऐसे मुकाम पर आ पहुँचा था एक साथ दो रेज़र-ब्लेड खरीदना मुश्किल। पाँच खरीद लेना अहोभाग्य—दिल बैठ जाता या दिमाग ठिकाना छोड़ देता।

ग्यारह बजे जैसा लेटा, वैसा उठा—उतना ही थका। अपार्टमेंट में नज़र घुमायी। नौकरानी का ऑपरेशन हुआ था, बूढ़ी माँ के घर आराम करने प्युएर्टोरिको चली गयी। चारों ओर कचरा फैला था। पुस्तक, पत्रिकाएँ, अंडरवीयर्स, टाईयाँ, रुमाल फर्श पर बिखरे पड़े थे, मेज़ पर कागज़। हालाँकि ढंग से रहना चाहता, पर हमेशा सब अंडबंड हो जाता। कोई चीज़ ढूँढे न मिलती। चेक खो जाते। पेन और चश्मा कहीं रख भूल जाता। एक जूता दिख जाता दूसरा नदारद। एक दिन पता चला रेशमी कोट गायब। सब जगह ढूँढा, दराज़ों में भी जहाँ जर्सी ही न घुस सकें; पर कहीं न मिला। चोरी चला गया? अपार्टमेंट में ताला टूटने की दूर, दरवाज़े-खिड़की ही में कहीं कोई खरोंच नहीं। फिर चोर कोट ही क्यों ले जाता? अलमारी दोबारा खोली, देखा अपने ही कपड़ों बीच दबा था। इतना अनमना कि अँधा हो गया!

रील को फोन लगा हफ्ते भर छुट्टी की खबर बतायी।

"फौरन से पेश्तर चले आओ।" चिल्ला पड़ी।

"ना। पहले यहाँ आओ और सारा दिन यहीं बिताओ। बाद में तुम्हारे घर चलेंगे।"

"तुम्हें मालूम है, माँ को अकेला नहीं छोड़ सकती"

"दो-चार घंटे की बात है।"

खूब आनाकानी के बाद 'बाज़ार तक' आने को राजी हुई जिसे उसने मेनहटन तक अपनी 'यात्रा' बताया। पड़ोसन उतनी देर ली हिन्डा के पास बैठ जाएगी। रक्तचाप के अलावा दूसरे अनेक रोगों की मरीज़ ली हिन्डा ज्यों-त्यों ज़िंदगी खींच रही थी। अनगिनत गोलियाँ निगलती, एकदम नपा-तुला खाना खाती। घेट्टो की और बन्दी-शिविरों की लम्बी ज़िन्दगी पार कर, नब्बे तक बनी रहने की ठाने हुई थी।

यों रील ने एक ही घंटे में आने का बोला, पर खूब मालूम तीन से कम नहीं लगेंगे। बदन पर आधे कपड़े पहने, पैरों में घिसे स्लिपर्स डाले सारा घर छान रही होगी। लेकिन जब कभी बाजार में आती सैबाथ पर पहने जाने वाली बढ़िया पोशाक कसे होती। घर से निकलने से पहले हृदयरोग की सारी इमरजेंसी दवाइयाँ माँ के पास करीने से रखती। ली हिन्डा को जरा नहीं मालूम ये अमेरिकी दवाइयाँ कैसे ली जातीं।

दाढ़ी बनाने, नहाने, बल्कि पाण्डुलिपि पर भी एकाध नज़र घुमा लेने का वक्त अभी शेष है। लेकिन टेलीफोन जरा साँस नहीं लेने दे रहा। रेजर जाने कहाँ गुम गया, पंद्रह मिनिट उसे ढूँढने ही में लग गए। एकाएक याद आया केलिफोर्निया ले जाने वाले बैग के भीतर रखा होगा। खोलने लगा कि फोन दोबारा खड़खड़ाया। आवाज़

बच्चे की नकल बनाते किसी बुजुर्ग की थी। भाँप गया कैंसरग्रस्त फिर भी खुशमिजाज सराह पित्ज़ेलेर ही है। "नहीं पता सराह मर गयी?" बच्चों-सी आवाज़ बना बोली।

क्या बोलता।

"चुप क्यों हो? भूत से डर गए? वे बिचारे क्या कर लेंगे? तुम भी उन्हें कोई चोट नहीं पहुँचा सकते। कितना गज़ब?" उसने फोन रख दिया।

दरवाज़े की घंटी तीन बार बजी। रील ही है। धड़धड़ाते वही आती है। घेट्टो-जीवन के, गुप्त रूप से सरहद पार करने के और शरणार्थी शिविरों के तनाव अपने साथ लादे रहती है। सुनहरे बाल, नीली आँखें और छरहरा बदन, यों चालीस के आस-पास, मगर लगती बीस ही की। काम करती ड्रेसमेकर का, मॉडेल बनने का अवसर मिला, लेकिन अंग्रेज़ी नहीं जानती। और फिर, घेट्टो में पीने की लत पड़ गयी।

दरवाज़ा बंद करने के पहले चीखती बोली, "अब कभी सबवे से नहीं जाऊँगी! भले मर जाऊँ!"

"क्या हुआ?"

"लोफर पीछे लग गया। कहा—हटो जनाब, इंग्लिश जानती ना लेकिन वो छेड़खानी करता रहा। धत् पिये हुए। खूँखार नज़रें। उतरी, पीछे वो भी उतरा। हे भगवान! लगा अब चाकू निकालेगा।"

"इतनी फैंसी पोशाक जो पहनी है।"

"तुम उसे जस्टिफाई करते हो? अक्सर मेरे ही दुश्मनों की तरफदारी में रहते हो। हिटलर के सलाहकार होते अच्छा रहता। मगर, सादी ड्रेस ही तो पहनी हूँ। यकीन मानो, कट-पीस शॉप से एक डालर में खरीदी। .... यार, माचिस भूल आयी। सिगरेट की तलब लगी है।"

माचिस दी।

गहरा कश खींचा। धुएँ का बादल उड़ाती बोली, "एक ड्रिंक चाहिए।"

"दिन धौले?"

"एक ग्लास ब्राण्डी दो। तुम्हारे लिए लंच पैक कर लायी हूँ।"

तब ध्यान गया बास्केट लटकाये थी। कई दफे मना किया खाना न लाये। तिलचट्टे और चूहे घर में जगह बनाते हैं। पर वह मनमानी करती। चेतावनी देता सिगरेट और शराब सेहत बरबाद कर देगी, मगर उसे रत्ती परवाह नहीं। तीन पैकेट रोज़ पी जाती। आधी रात उठ सुलगा लेती। छोटे गिलास में ब्राण्डी भरुँ-न-भरुँ बोतल छीन टम्बलर भर लिया। आदतन शराबी की तरह फटाफट पी गयी, पलभर चेहरा अजीब खिंचा, फिर खिल उठा।

यों, दोनों खा लें इतना लायी। पर मुझे ही सारा खाना पड़ा। रील सिगरेट और शराब ही से तृप्त होती रही। अपने पुश्तैनी गाँव में ज़माने से चलते आये व्यंजन बना कर लायी: पोटेटो क्यूगल, नूडल पुडिंग, मशरुम गुएल और प्रून डेज़र्ट। मैं खाता रहा वह दुखड़ा रोती रही, "घेट्टो में ऐसे खाने का सोचना ही हराम था। शुक्र मनाते कहीं से सूखी ब्रेड ही मिल जाये। एक बार दो यहूदियों को फफूंदियाहा टुकड़े को ले एक दूसरे का सिर फोड़ते देखा। कागज़ों में जिसे घसीटते रहते हो कहाँ है वो भगवान? हत्यारा है वह, भगवान नहीं। मेरे वश में होता जो उसका नाम बड़बड़ाये फाँसी चढ़वा देती।"

"फिर तो मेरा ही गला फँसता।"

"नहीं, नहीं डीयर, तुम्हारा सिर्फ मुँह बंद रखती, बस। मन में आये जो बोलते हो, जरा नहीं समझते—नासमझ नन्हें बच्चे हो। तुम-सा छोकरा किताबें लिख लेता है चमत्कार समझो। सच तो यह तुम थोड़े

लिखते हो—वह तो प्रेतात्मा तुम्हारे शरीर में प्रवेश कर गयी है, डायबक। वो ही लेखक है।.... अगर तुमने ये क्यूगल आखिरी कौर तक नहीं खाया तो अभी घर चल दूँगी और दोबारा पास नहीं फटकूँगी। लो, गिलास में थोड़ी और डाल लाओ।"

"अब नहीं, चाहे सिर के बल खड़ी हो जाओ।"

"ओह, कम ऑन! कुछ पल इस भद्दी दुनिया को भूल जाने दो।.... तुम उस दिन किसे साथ लेकर थियेटर में **दि टर्किश वेडिंग** देखने गए थे?"

"नहीं तो!"

"लेकिन तुम्हारी समीक्षा में किसी स्त्री का ज़िक्र है।"

"ओह हाँ, वह तो लिखने का स्टाइल है।"

"स्टाइल क्या? फैंसी लफ्जों से बहलाने की कोशिश मत करो। मुझे मालूम है स्त्रियों संग घूमते-फिरते हो। खुदा करे सब जलकर राख हो जायें। मेरे से पूरा नहीं पड़ता? तमु ज़रुर किसी कुतिया के संग **टर्किश वेडिंग** देखने गए थे। वो दोज़ख की आतिश में झुलसेगी। जब मैं-बंकर के भीतर चूहों और खटमलों के बीच सड़ रही थी तब वो ज़रुर ऐय्याशी के गद्दों पर लोट-पोट हो रही होगी, हरामज़ादी! अब मेरा आदमी छीनती है, कोढ़ से सड़ेगी?"

"कोई है ही नहीं, बेकार कोस रही हो।"

"है, ज़रुर है, और दूसरी ओर भी हैं। न हो तो अच्छा। इसीलिए पीती हूँ।...दो बूँद ही डाल दो।"

"बिल्कुल नहीं।"

"नहीं! क्या कहते हो, नहीं! तुम भी संगदिल खूंखार खूनी हो। रब्बी-कुटुम्ब के हो तो क्या, मेरे ख्याल से माँ की जारज संतान हो। ऐसे मत देखो मुझे। हमारे अभिशप्त इतिहास में ऐसा हुआ ही नहीं तो हम लोगों के सिर पर सुनहले बाल और चेहरे पर चपटी नाक कहाँ से आयी! हम यहूदी नहीं। गैरयहूदियों को पीड़ा पहुँचाते गैर यहूदी हैं, **जेन्टाइल परसेक्यूटिंग जेन्टाइल**! सच्चे यहूदी बरसों पहले मर चुके। जेरुसलेम में शायद मुट्ठी भर बचे हों तो हो।.... दे दो ना थोड़ी-सी, प्राण लोगे क्या?"

"बके जाओ।"

रील ने अपनी हल्की-नीली आँखों से घूरा। "जाने क्यों तुमसे प्यार करती हूँ। क्या है तुम में? बरसों किसी पुरुष के लिए तरसी। आखिर तुम मिले। सनकी, जालिम।"

गले लगे और जैसे ही मैंने उसे उठाना चाहा उसका एक जूता दूर जा फिसला। फोन खनखनाया। युनिवर्सिटी से आया था। अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष ने अगले दिन मेरे भाषण की याद दिलायी। या खुदा! मैं तो बिल्कुल भूल गया! पूछा तारीख आगे बढ़ सकती है? जवाब आया स्पेशल हॉल रिज़र्व किया जा चुका है, कोई भी अदला-बदली नामुमकिन।

बताते ही रील लाल सुर्ख हो गयी। एकदम दूर हट अपना जूता खोजते लड़खड़ायी। कहीं टकराकर गिरी। वहीं पड़ी चीखी। "ऐसे ही हमारे सारे मंसूबे ढेर हो जाते हैं! लानत है इस पूरे दिन पर....।"

"मेरे साथ चली चलो।"

"तुम्हें खूब मालूम, नहीं जा सकती, मतलबी! पहले माँ को ज़हर देना होगा।"

"क्या करुँ, मुझे तो जाना ही होगा।"

"चले जाओ, लेकिन याद रखो, लौटोगे तब दो लाशें मिलेंगी। यही नियति ज़िन्दा रहने के लिए कमाई थी। ईश्वर के लिए कोई वह न बचाये मैंने जो बचाया—यह पाप है। बहुतेरे मेरे इर्दगिर्द मक्खियों-से मर गए, और

मैं थी कि मसालेदार कटलेट के लिए और प्यार के लिए सपने संजोये रखी। इसीलिए सज़ा पा रही हूँ। अब कभी मेरे पास मत फटकना। जालिम दुश्मन...।"

उसकी ओर देखा—तीखी नाक, नुकीली ठुड्डी, पिचके गाल। जवान लड़की-सी भीतर आयी थी। अब अधेड़ उम्र झलक उठी। आँखों के नीचे झुर्रियाँ दीख पड़ीं। नथुने फूल उठे।

चीखी, "बोतल मुझे दो! पीकर घुत होना चाहती हूँ।"

"मेरे अपार्टमेंट में नहीं।"

"देओ ना। पीने के सिवा अब क्या बचा है मेरे पास। क्यों बनाया संसार ईश्वर ने? जवाब दो। वो ईश्वर नहीं, शैतान है। वो ही हिटलर है—हाँ यही कड़वा सच है।"

"चुप रहो।"

"अच्छा! तो तुम पवित्र बन गए, क्यों? कोप वचन से डर गये? वो वहाँ सातवें आकाश में बैठ बच्चों को गैस-चेम्बरों में भुने जाते देख रहा है। फरिश्तों की खुशामद के बीच वह जन्नत के वैभव में धूप ताप रहा है। बोतल मुझे दे दो, नहीं तो यहीं प्राण दे दूँगी"

मेरे व्याख्यान का विषय था "एबसर्ड और अवचेतन के साहित्य का भविष्य।" बता दिया भाषण के बीच टोक कर श्रोता अपना ऐतराज जता सकते हैं। वैरी सन्नाटे के दरम्यान फुसफुसाने और खाँसने की आवाजें आयी। किसी स्त्री ने टोका। एहसास नहीं हुआ मैंने आधुनिक कथा के मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों पर प्रहार किया था। बहस के दौरान विद्यार्थियों ने मेरे विरुद्ध रखे तर्कों में काफ्का और ज्वायस का हवाला दिया। प्रतीकवादियों का स्थान कहाँ है? इस तरह तो साहित्यिक इतिहास की घड़ी फ्लाबेयर के यथार्थवाद की ओर उलट जायेगी? मुझ से लेखकों ने 'भीतरी मनुष्य' को चित्रित करती लम्बी, धूमिल कहानियाँ ही लिखीं। जबकि दूसरे लेखकों ने अपने साहित्य से समाज के पुनर्निमाण का या ध्वंस का प्रयास किया। किसी प्रोफेसर ने नोट किया साहित्य का मेरा सिद्धांत मेरे ही लेखन से मेल नहीं खाता, जो प्रतीकात्मक है, प्रायः रहस्यात्मक। अपना दृष्टिकोण बताने को उठा ही कि अध्यक्ष ने जलपान का इशारा कर दिया। दूसरे हॉल में गए जहाँ मदिरा और शरबत पेश हुआ। जलपान मेरे सम्मान में आयोजित था, लेकिन साहित्य के प्रोफेसर मुझे टाल अपने ही बीच 'घरेलू' मज़ाकों में मशगूल रहे। मैं, कोने में खिसक, अजनबी-सा शरबत की चुस्की लेता रहा।

एक स्त्री पास आयी। पहचानी लगी गो नाम-धाम याद नहीं आया। यह भी नहीं पता कब मिली। जवान लगी, अधेड़ भी, जैसे किसी बीमारी से उठी हो या संकट से । एम. ए. की छात्र? प्रोफेसर? पता नहीं। काली आँखें, घुंघराले काले बाल, ऊँचा मस्तक और रोंएदार ठुड्डी काली पोशाक बेतुकी लगी। हाथ में लगभग खाली गिलास। मदहोशी के हिचकिचाते अंदाज में बोली, "आपने शायद पहचाना नहीं?"

"जानता हूँ ," मैंने कहा, "पर भान नहीं रहा।"

"रोजली कादिश।"

"ओह हो!"

एक-दूसरे को चूमने बढ़े, मगर गिलास बीच में अड़ गये। डरा कहीं शरबत से उसके कपड़े भिगो न दूँ। बोली, "बुढ़ा गयी हूँ, मगर आप नहीं बदले।"

"अब क्या कसर बाकी है?" मैंने कहा। "लेकिन यहाँ क्या कर रही हो? कहाँ से आयी हो? क्या चल रहा है?"

छितरे, पीले दांत दिखा शरारत भर मुस्करायी, "पवित्र धरती, यानी होली लैंड से आयी हूँ, समकालीन

Hira Lal Thakur
BADAH P.o. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

हिब्रू साहित्य के कुछेक पाठ पढ़ा रही हूँ। अपनी थीसिस भी लिख रही हूँ।"

"तुम्हारा वो गैर-यहूदी बॉय-फ्रेंड कहाँ है?"

"खूब याद है आपको! उसने किसी धनी विधवा से ब्याह कर लिया।"

"मानवता के उद्धार की इच्छा छोड़ दी?"

"पत्नी का कठोर नियंत्रण है। पहले पति से चार बच्चे हैं और अब फिर से पेट भारी है।"

"कहाँ रहते हैं?"

"केलिफोर्निया में, दूसरे सभी सनकियों समान।"

"और तुम?"

आँख झपकायी, "मेरा क्या?" फिर अपने बारे में बोली, "जेरुसलेम में एक जवान प्रोफेसर से प्रेम किया जो किसी भी पल पत्नी को तलाक देने वाला था पर उसी के साथ चिपका रहा। वह अपने से वर्षों छोटे किसी इटैलियन छात्र से फँसी थी जिसके साथ विवाह का सवाल ही नहीं उठा। किसी अरब के साथ भी चक्कर था। अब लेकिन सब छोड़ दिया।"

"तो फिर क्या करती हो?"

"गाँजा पीती हूँ।"

"उससे काम चल जाता है?"

"नामर्दों की मजबूरियाँ सुनने से तो बेहतर है।"

"बात इतनी बढ़ गयी?"

"हाँ, सिनिकल हो गयी हूँ", वह बोली। "हर आदमी के और हर बात के बाबत पूरी तरह मोहभंग हो गया। हालाँकि डाक्टरेट पूरी करना चाहती हूँ। उसके बगैर सब खोटा है।"

"माता-पिता कैसे हैं?"

"मेरे लिए सारी उम्मीदें छोड़ बैठे हैं।"

बहुत देर हो गयी थीं रोजली ने कहा, "यहाँ मेरा एक अपार्टमेंट है। चाय के लिए चलिए? दो बजे तक नहीं सोती। और, कल पढ़ाने भी नहीं जाना है। घबराइये मत, आपको बहकाऊँगी नहीं।"

सभा में आये लोगों को धन्यवाद देना था, लेकिन अध्यक्ष मय पत्नी पहले ही रवाना हो गए। दूसरे मेहमानों से परिचय नहीं था। युनिवर्सिटी किसी शहर समान थी। बाहर निकलते रोजली ने बांह-में-बाँह डाल दी। कड़ाके की सर्दी थी। बर्फ़ीली हवा। मैंने खासे गरम जूते, मोटे दस्ताने और नकाब कस रखी थी। 'चश्मों' से झाँकने लगा, "कू क्लक्स क्लान का मेम्बर हूँ।" धुँधली रोशन, बर्फ़ ढकी गलियों पर चलने लगे, हवा पीछे धकेलती रही। सारे कपड़ों को चीर, पसलियों को बेधने लगी। साँय-साँय करती बर्फ़ की तेज़ फुहार हमारे आसपास घुमड़ जाती। बचपन में पढ़े उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों की यात्राओं के वर्णन याद आ गए। बर्फ़ चढ़े स्ट्रीट लैम्पों से एकदम मद्धिम लौ ढल रही थी। सड़क चिकनी थी और हम एक दूसरे से ऐसे सटे चले, कहीं गिर न जायें। किसी छत के ऊपर एक हरा-नीला तारा चमका। यहाँ धरती पर शून्य से ग्यारह डिग्री कम था, ऊपर वहाँ दस करोड़ डिग्री ज़्यादा होगा।

रोजली कादिश के साथ उसके अपार्टमेंट तक पहुँचते तीन मंज़िलें पार कीं। चारों ओर किताबें और पत्रिकाएँ बिखरी हुई—बिस्तर पर, कुर्सियों पर, फर्श पर, रेफ्रीजरेटर और गैस-चूल्हे पर भी। फटाफट इकट्ठी कर चाय की केतली चढ़ायी। मदिरा और बिस्कुट सामने रखे। बड़ा पियक्कड़ नहीं, मगर उतना चलने के बाद गर्म होना चाहा। हमने 'ला-चैम' पी और वह बोली, "आपको कभी न भूली। आपकी कृतियों पर थीसिस लिखना चाहती

थी, लेकिन रेफरेंस मटेरियल ठीक से नहीं जुटा पायी।"

एकाएक याद आया रील को फोन लगाना था। ब्रांक्स में इंतज़ार करती होगी। मुझे ही लगा सकती है। रोजली को बताया तो बोली, "घबराने की ज़रुरत नहीं। यहाँ से लगा लो।"

फोन घुमाया और रील की आवाज़ सुनाई दी। कर्कश। अभी तक नाराज़ थी।

पूछा, "भाषण कैसा रहा?"

"ऐसा-ही।"

"भूल गये यहाँ वक्त एक घंटा पहले बीत जाता है। मैं सोने ही जा रही थी • • •"

"मेरे लिए कॉकटेल पार्टी थी। वहाँ से फोन नहीं कर सकता था।"

"अभी अपार्टमेंट में ही हो ना?"

"हाँ, " मैं झूठ बोला, एकाएक लगा ग़लती हो गयी।

"बिल्कुल झूठ। धोकेबाज, झूठे कहीं के। पाँच मिनिट पहले मैंने फोन किया था।"

"अभी हाल कदम रखा है," बोला, पर लगा बात ज्यादा ही बिगाड़ रहा हूँ।

रील चिल्ला पड़ी। "ओ. के. रखो फोन। अभी फिर लगाती हूँ।"

जवाब दूँ उसके पेश्तर उसी ने काट दिया। घम से वहीं बैठ गया। अपने खाली अपार्टमेंट में खनकती घंटी की आवाज़ सुनाई दी। रील की तीखी फटकार सुनाई दी। लगा, बस, अब मैंने उसे खो दिया। खेल खत्म।

रोजली ने कनखियों से देखा और बोली, "चिन्ता मत करो, वह फिर आएगी।"

"अब कभी नहीं।"

"सिगरेट लोगे, मारिजुवाना-भरी है। तुम तो किसी एक ही के साथ उलझने वाले आदमी नहीं हो।"

"नहीं। एक गिलास ब्रांडी और लूँगा।"

खुद ही ढाढस बँधना चाहा। ये वाहियात प्रेम, सोचने लगा, सारा रोमेंटिक प्रपंच, दो-कौड़ी काम का नहीं। नई पीढ़ी कितना सही काम करती है—वफादारी की कोई ज़रुरत नहीं और जलन का, डाह का, द्वेष का नामो-निशान नहीं। हमारे तथाकथित अंतर्बोधों के, यानी इंस्टिंक्ट्स के निन्यानवे दशमलव नौ प्रतिशत भाग सामाजिक सम्मोहन से रमे हुए हैं।

रोजली ने चाय और बिस्कुट रखे। घर जाने की अब जल्दी नहीं रही। वह सुसंस्कृत स्त्री थी, दिखने में बुरी नहीं। और फिर, हम दोनों स्वयं का नाश करती जा रही कौम के बाशिंदे थे ही।

दो-एक हफ्ते बीते। फिर किसी व्याख्यान के लिए बाहर गया। मौसम ज़्यादा ही बिगड़ता गया। अखबारों ने देशभर में व्याप्त बर्फ़ीले तूफानों और अभूतपूर्व ठण्डी हवाओं की खबर दी। रेलगाड़ियाँ रुकीं। और ठण्ड से ठिठुरी भूखी सवारियों को राहत पहुँचानी पड़ी। सर्दियों में प्रायः हवाई जहाज की बनिस्वत रेलगाड़ी से सफर करता। छोटी-सी नोटबुक में संकेत रहते 'म' के नगर में, मिडवेस्ट में, शाम तक, और फलां होटल में पहुँचूंगा। जिस संस्था ने निमंत्रण दिया उसका पत्र भाषण के लिए बनायी टिप्पणियों के साथ ब्रीफकेस में पैक हो गया था। यों, पतों और दिशा-निर्देशों की मुझे जरुरत नहीं पड़ती। होटल पहुँचते कार्यक्रम के आयोजक का फोन आता हीं उस क्षण से रवानगी तक वह मेरी व्यवस्था का ध्यान रखता। सायनागॉग हो या विश्वविद्यालय, या हदास्साह महिलाओं और लाइब्रेरियन्स ही की सभा हो, मेरा भाषण एक-सा होता।

शिकागो मे, कूपे या स्लीपर बुक करना चाहा, मगर खाली नहीं मिला। मौसम के कारण, जगह पर भाषण के वक्त से कोई पंद्रह घंटे पहले मजबूरन पहुँचना पड़ेगा। ट्रेन जो मिली सुबह चार बजे पहुँच जाएगी। कोई

बात नहीं, मैंने तय किया। होटल में ठहर कर काम करता रहूँगा। संस्था के प्रतिनिधि दिन के और रात के खाने पर खुशी-खुशी बुला लेंगे। यों कोच से सफर का अभ्यास छूट गया, लेकिन छोटी-छोटी बातों पर सिर खपाने का स्वभाव नहीं है। खिड़की के पास सीट मिल गयी। कार काफी गर्म थी। शिकागो में, अखबार-पत्रिका, और एक वैश्यागामी आदमी की जीवनी खरीद ली थी। रात भूख लग जायेगी यह सोच, सैंडविच और सेब साथ रख लिये। आशंका थी कोई उबाऊ व्यक्ति पास न आ बैठे, पर कोच आधी खाली थीं

बर्फ़ और घने कोहरे से ढका एक शहर रास्ते में मिला। सड़क पर ट्रक और कारें चींटियों-से रेंग रहे थे। कारखानों की भट्टियाँ धुआँ उगल रही थीं। किसी चिमनी से लौ भी उफनी। थोड़ी देर बाद शेड गिरा, पढ़ने लगा। प्रतिदिन-सा अखबार खून, बलात्कार, आगज़नी की खबरों से भरा था और सम्पादकीय मॉफिया और नशाखोरी से उत्पन्न खतरों से आगाह करता हुआ। पत्रिका में किसी एक्ट्रेस पर लम्बा लेख था जो एकाएक इतनी मशहूर हो गयी कि उसे बीस हज़ार डालर प्रति शो मिलने लगे। 'जीवनी' में प्रमुख पात्र को वैश्यागामी बनाने के लिए ज़िम्मेवार परिस्थितियों का जिक्र था—टूटा परिवार, शराबी पिता, माँ के यार, उसका वैश्यालयों में भटकना। वीभत्स, उबाऊ भी। साहित्य के भविष्य पर सोचने लगा : नग्न तथ्यों के साथ कथाकार क्या जोड़ सकता है? सनसनी और मेलोड्रामा रोज़मर्रा खुराक बन गया! अविश्वसनीय सर्वाधिक विश्वसनीय हो गया!

उबासी भरी पन्ने पलटे। भूख नहीं थी, फिर भी सैंडविच और सेब खा गया। एक क्वार्टर में पोर्टर से तकिया किराये से ले, लेटकर सुस्ताने लगा। शनैः शनैः कार में अँधेरा घिर आया। आँखें बंद की, कुछ ऊँघा, कुछ ध्यानमग्न हुआ। रील को सच में खो दिया। जब भी फोन किया काट दिया। कोई और मिलेगी, सोचने लगा। स्वप्न देखने लगा, यों स्टेशनों का नाम पुकारते कंडक्टर की आवाज भी आती रही। बाद में ज़रुर आँख लग गयी होगी क्योंकि उसे मुझे जगाना पड़ा। गाड़ी 'म' आ पहुँची थीं।

कोट, बैग और ब्रीफकेस उठाया। अकेला मैं वहाँ उतरा। हवा तीखी थी। कोच से प्लेटफार्म खूब दूर था। करीब सौ साल तक स्टेशन दौड़-भाग और हल्ले-गुल्ले का मुकाम था, अब वहाँ अँधेरा और खालीपन बसेरा करता। बैंच पर एक काला आदमी खुर्राटे भर रहा था। टैक्सी के लिए बाहर गया। निराश खड़ा रहा, फिर एक दिखी। ड्राइवर ने सामान रखा। मैंने होटल बताया।

"कहाँ है वह? ये नाम तो कभी नहीं सुना।"

कोट की जेब में हाथ डाला। नोटबुक नहीं मिली। ड्राइवर ने अपनी किताब और टॉर्च निकाल चेक किया। मैं चकरा गया। मेरे लिए हमेशा मशहूर फर्स्ट-क्लास होटलों ही में रिजर्वेशन होता। टैक्सी खूब चमकीली सड़कों पर चली, फिर अँधेरी, सँकरी गलियों में मुड़ी। मैं आशंका से भर गया। कहीं कोई लूट न ले! टैक्सी किसी फूहड़, थर्ड-क्लास होटल पर रुकी। मुझे बुलाने वाली संस्था पर बड़ा गुस्सा आया। तय किया सुबह ही न्यूयार्क लौट जाऊँगा। ड्राइवर को पैसे दिये, उसने घंटी बजायी और बंद दरवाज़े पर दस्तक दी। कुछ पल बाद, एक आदमी बाहर आया। उन्नींदा। सिर्फ स्वेटर पहने। पूछा मेरे नाम का रिज़र्वेशन है ना!

कंधे बिचका बोला, "रिजर्वेशन? नहीं।"

ज़रुर कुछ गड़बड़ हो गयी। यहाँ तो लिफ्ट ही नहीं है! उसके पीछे सँकरी सीढ़ी चढ़ा। गैस और कोयले के धुँए की गंध आ रही थी। उसने दरवाजा खोल छत से लटका बल्ब जलाया। दीवारों पर उखड़ा वाल-पेपर था, फर्श पर फटा लिनोलियम, बीच में लोहे का पलंग और कोने में चरमाराती अलमारी। गरीब-दिनों में किराये पर लिये कमरों की याद आयी। क्लर्क तत्काल लौट गया। तब लगा किसी सच्ची विपत्ति ने आ घेरा है। ट्रेन से उठाया ब्रीफकेस मेरा नहीं, मेरे में भाषण और दूसरे महत्वपूर्ण कागज़ात थे, नोटबुक भी ग़लती से उसी में घुसेड़ दी होगी। मुसीबत एक साथ आती है, ट्रेवेलर्स चैक भी उसी में पैक थे। आज तक नहीं मालूम ऐसा क्यों

किया, शायद किसी आदमी की ज़िन्दगी को बाध्य करती ताकतें मुझे जबर्दस्त यंत्रणा पहुँचाने की ठाने हुई थीं। कुल मिलाकर कुछ डालर और फुटकर चिल्हर जेब में पड़ी थी।

इधर-उधर टेलीफोन खोजा, कमरे में नहीं था। चिंतित था ही, अपने ही भीतर से किसी ने जाल में जा फँसने की मखौल उड़ायी। अब सिर्फ एक आखिरी उम्मीद थी—अगले दिन मेजबान मुझे ढूँढने आयेंगे। लेकिन संदेह बना रहा होटल ही सही है कि नहीं! कोई संस्था आमंत्रित वक्ता को इतनी भद्दी जगह नहीं ठहरा सकती। कोई न कोई भूल ज़रूर हुई है। साफ हो गया रील को निराश करने की सजा मिली है। उसके श्राप रूप ले रहे हैं। जैसा प्रायः होता, तकलीफ के वक्त मेरा विश्वास फिर से जगने लगता।

होश संभाल देखा, कमरा ठण्डा-गार था। हीटर पर धूल, रंग उखड़ा, वह जला ही नहीं। बिस्तर लुढ़काया, धूसर चादर और गंदे गिलाफ दिखे, खटमलमार दवा के छिड़काव का भभका उठा। आँखें बंद कर हृदय की आँतरिक आवाज़ सुनने का यत्न किया, एक ऐसी शक्ति, जो, **वान हार्टमान** के अनुसार कभी धोखा नहीं देती। कौन है वह, किसने मुझे इस गर्त में डाला? इसमें आत्म-ध्वंस के सारे संकेत हैं।

कपड़े बदल बिस्तर में घुसा, कोट को दोहरे कम्बल समान ऊपर डाल लिया। ...नोटबुक ही जेब में मिल जाती! अपने और रील के अलावा किसी और के टेलीफोन नम्बर याद नहीं थे। न्यूयार्क का मेरा अपार्टमेंट खाली था और रील बात करेगी नहीं। लगा रात भर नींद नहीं आएगी, लेकिन गहरा सो गया।

अगली सुबह सार्वजनिक टेलीफोन से रील को स्थिरचित्त हो फोन लगाया। कोई जवाब नहीं आया। एक घंटे बाद, फिर दो और तीन घंटों बाद कोशिश की, सब बेकार। अमूमन, रील बाहर होती तब माँ फोन उठाती ही। मां का गला घोंट खुद जहर खा गयी क्या? दूसरे टेलीफोन नम्बरों को याद करने की खूब कोशिश की पर स्मृतिभ्रम में ही फँसा रहा। केवल एक काम बचा—किन्हीं यहूदियों को खोज पता लगाऊँ, शाम मेरा भाषण कहाँ होना है। मगर पहले कुछ खा लूँ। नाश्ता नहीं किया था, भूख सताने लगी। एक कैफेटेरिया में घुस रोटियाँ, दो ब्रैडरोल, और कॉफी ली। उसमें पिच्चासी सेंट खर्च हो गये। अब पास में सिर्फ एक डालर अट्ठावन सेंट शेष बचे। टैक्सी का ख्याल छोड़ दिया।

पैदल घूमते कुछ दुकाने दिखी। एक बोर्ड पर नाम था मोरिस शेपिरो। लगा वहाँ कुछ पता चलेगा। हो सकता है मोरिस शेपिरो आज रात मेरा भाषण सुनने जानेवाला हो। स्टोर में घुसा। खूब बड़ा था, मगर सामान रद्दी। मेजों पर नाइटगाउन, ब्लाउज, फ्राक, स्वेटर, स्कार्फ बनियाइन—सभी तरह के सस्ते फुटकर सामान—भरे पड़े थे। उजला दिन था, फिर भी लैम्प जले थे। किंग सोलोमन की कथा का ख्याल आ गया। एजमादिअस ने उसे उठा जेरुसलेम से चार सौ मील दूर फैंका। इज़रायल का राजा चीखा, "मैं सोलोमन हूँ" वह तो राजा था। मैं क्या हूँ? अमेरिका के हज़ारों में से एक लेखक—महज एक ब्रिटिश लेखक।

चारों ओर मोरिस शेपारो को चीन्हना चाहा मगर वहाँ सामान खरीदती स्त्रियों और कुछेक सेल्सवूमन के अलावा कोई नहीं दिखा। उनमें से एक के पास गया, "मोरिस शेपारो कहाँ मिलेंगे?"

मुस्कराते मुझे नापा-तौला, "मिस्टर शेपारो बाहर गए हैं।"

"कब तक लौटेंगे?"

"आपको उनसे क्या काम है?"

लड़खड़ाते समझाने लगा। उसने सुना न सुना। बीच-बीच में दूसरी सेल्सवुमन से भी बात करती रही। उसका गुड़ियों-सा चेहरा सुनहले घुंघराले बालों से घिरा था।

"मिस्टर शेपारो आज शिकागो में रहेंगे," ज़ोर से बोली।

"क्या किसी सायनागॉग या किसी रब्बी का पता बता सकती हैं?"

"यहूदी नहीं हूँ। ...सुनो सिल्विया!"

काले बालों वाली एक छोटी-सी स्त्री को पुकारा, जो दूसरी सभी सेल्सवुमन ही की तरह नीला कुरता पहने थी। सिल्विया किसी ग्राहक के साथ उलझी थी। अधेड़ स्त्री एप्रन को दोबारा पहन दुविधा में थी, खरीदे कि नहीं। पास में चाकलेट चूसती सिल्विया अन्यमनस्क खड़ी थी। आखिर ग्राहक बोली, "आइने में देखूँगी।"

सिल्विया को उलझन बताने लगा।

उसे चिढ़ हुई। समय खोटा हो रहा था। बोली, "बहुत-से सायनागॉग हैं पर वे सिर्फ सैबाथ को खुलते हैं।"

"किसी रबी का पता बता सकती हो?"

"नहीं मालूम। फोन-बुक में देख लो।"

"कहाँ मिलेगी?"

"वेस्टर्न युनियन ऑफिस में।"

"वह कहाँ है?"

"सड़क पार।"

शुक्रिया अदा कर बाहर आया। वेस्टर्न यूनियन का साइनबोर्ड कहीं नहीं दिखा। बेवकूफ बना गयी, या मैं ही अँधा हो गया? घड़ी देखी। सवा दो बजा था। भाषण अब से छह घंटे बाद शुरु होना था।

सर्दी के बावजूद राहगीरों से गली पटी पड़ी थी, कारें और ट्रक न्यूयॉर्क या शिकागो ही की तरह बम्पर से बम्पर भिड़ाये रेंग रही थीं। सभी लोग चिड़चिड़े और अधीर दिखाई दे रहे थे। एक वयोवृद्ध स्त्री कुत्ते को पट्टे से खींच रही थी। पेड़ के तने से सटा वह सरक ही नहीं रहा था। स्त्री उसे कोस रही थी। "ओ संसार के स्वामी, इस सबकी तुझे क्या जरुरत?" मैं बुदबुदाया। उसी पल वेस्टर्न यूनियन का साइनबोर्ड दिखा। दफ्तर में घुस, टेलीफोन डाइरेक्टरी उठा, "म" तक पन्ने पलटे। "यहूदी" शब्द से आरंभ हुए नाम की कोई संस्था नहीं मिली। शायद मिडवेस्ट के यहूदी संस्थाओं से अपनी संबद्धता को विज्ञापित नहीं करना चाहते। इन परिस्थितियों में कोई क्या करे— बैठा-बैठा प्राण त्याग दे? न्यूयॉर्क में मेरा एक प्रकाशक था मगर टेलीफोन नम्बर याद नहीं आया। और फिर, उसके धंधे का दिवाला निकलने ही वाला था। हाल में, किसी एक सेक्रेटरी ने पाँच हफ्तों से वेतन न मिलने की शिकायत दर्ज की थी। इन सबके अतिरिक्त, सम्पादक तलाक लेने के लिए रेनो गया हुआ था।

पीले पन्नों में 'गिरजाघर' शीर्षक के अंतर्गत टटोलने लगा। दो सायनागॉग के नाम मिले। टेलीफोन करने उठा लेकिन पास में डाइम नहीं थे। उसी क्षण अकेले टेलीफोन बूथ में दूसरा घुस गया। जिस तरह वह उलझा था, लगा जल्दी बाहर निकलेगा नहीं।

लेखन और भाषण से आजीविका कमाने के गरीब दिनों को भूल चुका था। फिर याद आ गए। अभी नाश्ता किया था दोबारा भूख लग आयी। वेस्टर्न यूनियन के ऑपरेटर से रेज़गारी माँगी, मुझसे बेखबर वह टेलीग्राफ कुंजी ताकता बैठा रहा। सोचने लगा लेखकों को कभी संपन्न नहीं होना चाहिए। उनकी नियमित आय भी नहीं होनी चाहिए। खाता-पीता आदमी भूखे को कभी नहीं समझ सकता। घर में बैठा आदमी सड़क पर सोते लोगों के साथ अपनी पहचान नहीं बना सकता। स्मृति, कल्पना पर्याप्त नहीं। शायद ईश्वर मुझे लेखक होने के मिशन की याद दिला रहा था।

दस पन्द्रह मिनिट खड़ा रहा तब जाकर ऑपरेटर ने क्वार्टर ले रेजगारी दी। दोनों सायनागॉग को फोन लगाये। पहले नम्बर से कोई जवाब नहीं मिला। दूसरे पर क्लर्क ने जवाब दिया—रब्बी नगर में नहीं है—सैबाथ

की छुट्टियाँ ले इंग्लैण्ड चले गए। उसकी जानकारी में उस शाम यहूदी समुदाय के लिए कहीं कोई भाषण आयोजित नहीं था। वह चिढ़चिढ़ी लगी, सोचा उसे अपनी कथा बताना फिजूल है।

मन-ही-मन प्रण किया : इस विपत्ति से बच गया तो मदद माँगने आए हर व्यक्ति के प्रति और ज़्यादा उदार बनूँगा। **"अब आखिरी बार"** कहते रील को फिर फोन किया। कोई जवाब नहीं। जाहिर था वहाँ कोई बड़ी दुर्घटना घटी होगी। ली हिन्डा मर गयी या उसे जोर का दौरा पड़ा। या रील ही ने उसे फोन छूने से मना कर दिया।

होटल पहुँच अपने तीनों सूटकेस छान मारे। शायद कोई दूसरी नोटबुक हाथ आ जाये। किसी पॉकेट में कुछ पैसे ही मिल जायें! केवल चाकलेट का टुकड़ा मिला जिसे चूस भूख दबाता रहा। फिर ट्रेन से उठा लाया ब्रीफकेस हिलाया-डुलाया। अपनी समूची हताशा उस पर बरसा, ताला तोड़ा। आशंका सही निकली—किसी स्त्री ही का था। नाइटगाउन, कॉस्मेटिक बैग, मोजे, अण्डरवीयर, ब्लाउज, स्वेटर बाहर निकाले। पते ठिकाने का नामो-निशान नहीं। मेरे ब्रीफकेस में पता और न्यूयॉर्क का फोन नम्बर था, लेकिन वहाँ लगाये तो भी जवाब कौन देगा? और फिर क्या मालूम मेरा ब्रीफकेस उसने पास रखा या रेलवे थाने पर जमा करा दिया। थाने पर लगाऊँ, पर ताकत नहीं बची।

बिस्तर पर पसर खुदकुशी की सोचने लगा। अगर किसी आदमी का जीवन और मन-की-शांति कागज़ भरे ब्रीफकेस पर टिकी हो फिर तो जीना दो कौड़ी का। कागज़ के कुछेक टुकड़े क्या खो गये अछूत ही बन गये!

सूटकेसों को गिरवी रख दूँ? या घड़ी! तीन बीस हो गया। घंटे भर में रात हो जाएगी। रेडिएटर के पाइप गुनगुने भर हैं। शेव किया न दाँत माँजे। चुभते बालों से चेहरा भर गया। पुलिस को बताऊँ? मेरे जैसे मामलों को निपटाने की कोई संस्था भी तो होगी?

आँख झपकी, खींच कर ताना। रील को फिर फोन करना चाहिए। जिनके पते मालूम हैं, उनके टेलीफोन नम्बरों पर फोन करूँ। पहले से ख्याल क्यों नहीं आया? मेरे साथ दिक्कत यों कि ज़रा गड़बड़ हुई दिमाग फेल। कोई और होता इस चक्कर में से कब का उबर आता। शर्म आयी इतना मजबूर हो गया, खुद को धिक्कारा छिः येशिवा छात्र सा बौखला गया। इतनी तेज ठण्ड न होती, शायद मैं भी मर्दानगी दिखाता। ठण्ड ने बिल्कुल निकम्मा बना दिया।

बाहर निकलने के पहले दो स्वेटर और मफलर कसे। अजनबी, सर्द नगर में रात होते क्या गत बनेगी, सोचकर काँप गया। होटल के पास ड्रगस्टोर पहुँचा। जेब के भीतर ही भीतर सिक्के गिनने लगा। दिमागी कसरत करने लगा, कौन-कौन मदद करेंगे। फर्श पर पड़ा एक लिफाफा उठाया, दोस्तों और दूसरे परिचितों के पते याद कर नोट किये। गो किसी के बारे में पूरा यकीन नहीं था।

ड्रगस्टोर में चार टेलीफोन बूथ थे, सभी भरे हुए। इंतज़ार करते विनती की : हे भगवान, क्षमा करो, संकट से हरो। अट्ठारह डालर दान देने का वचन दिया। कुछ पल बाद अट्ठारह और जोड़ दिये। तय किया "प्रायश्चित" करना ही होगा। तोराह के आदेशों के उल्लंघन की ही सजा पा रहा हूँ। भीतर के नास्तिक ने मेरी धर्मनिष्ठा की मखौल उड़ाते साफ बता दिया—न्यूयॉर्क पहुँचते सब भूल जैसे-का-तैसा हो जाऊँगा।

आखिर ईश्वर ने सुनी। जहाँ विजिटिंग प्रोफेसर रहा वहाँ की "इन्क्वायरी" को डॉयल कर, रोजली का नम्बर माँगा और अपने ही कानों को यकीन न हुआ—फोन पर उसकी आवाज़ आयी। नाम सुन उसने आपरेटर को फोन का खर्चा अपने बिल में ट्रांसफर करने का आदेश दिया। उसे सारा वाकया समझाया जैसे जानलेवा संकट में जा फँसा हूँ।

"मैं अभी इंतजाम करती हूँ मॉय डीयर", उसने कहा। "थोड़ा रुपया अभी तार से भेजती हूँ। खुद ही

आती, ओह, लेकिन कल थीसिस को लेकर प्रोफेसर के साथ आखिरी अपाइंटमेंट है।"

"रोजली, तुम्हारा ऐहसान आखिरी साँस तक नहीं भूलूँगा। पहुँचते ही सारा उधार वापस करुँगा।"

"इतने काँप क्यों रहे हो? पता लगाओ ना भाषण कहाँ होना है।"

"कैसे?"

"पुलिस को बताओ। वे सब ढूँढ देंगे।"

रोजली को होटल का पता बताया। दोबारा जन्म-जन्मांतर तक का एहसान माना।

बोली, "दिल कहता है तुम्हारे पास दौड़ आऊँ। थीसिस को लानत है।"

काँपते हाथों रिसीवर रखा, अपनी कामयाबी से अभिभूत जैसे जान बची। रोजली के प्रति प्रेम उमड़ आया। यों लम्पट, मारिजुआना पीती हुई, फिर भी चेहरे से दिव्य चमक झलके, क्योंकि दूसरे व्यक्ति को मदद पहुँचाने को तत्पर। रील से हज़ारों गुना बेहतर, भीतर ही भीतर बोल उठा। रोजली को उसी पल ब्याहने तैयार था। उसके अतीत से कोई लेना देना नहीं। स्त्री-पुरुष के दरम्यान नयी प्रवृत्तियाँ ज़रुरी हैं। 'ऊब' से और आजकल की पारिवारिक ज़िन्दगी से निजात मिलनी ही चाहिए।

मेरा सिक्का, डाइम, साकट में खनक आया, दोबारा घुसा रील को फिर फोन घुमाया। किसी दैवी ताकत ने बताया इस बार घर ही होगी। टेलीफोन के बिल्कुल नजदीक खड़ी दिखी। घंटी सुनाई दी और फिर आवाज़। साँस थामे बोला, "रील, हाथ जोड़ विनती करता हूँ फोन मत रखना।"

"फोन आपके अकाउण्ट पर चलने दूँ या बन्द करुँ?" ऑपरेटर हड़बड़ी में बोली।

पल के असमंजस बाद रील हाँ बोली। आवाज़ कर्कश लगी जैसे झगड़ी या रोयी हो।

"रील, यहाँ अजीब हादसा हो गया। ब्रीफकेस खो गया, ट्रेवेलर्स चैक और नोटबुक भी। कंगाल हो, सर्दी में ठिठुरता इस नगर किसी अनजाने अटपटे डरावने होटल में आ फँसा हूँ। तुममें ज़रा प्यार बचा हो, मेरी बात सुन भर लो।"

"खूनी, खूँखार, जानवर—तुम हो कहाँ?"

"रील, बदला भँजाने का ये ठीक अवसर नहीं। हाँ, प्राण ही लेना हो बात दूसरी है।"

रोजली तत्पर मदद पहुँचाने राजी है ही सो अब हताशा की वैसी कोई बात नहीं। मगर खटका तो था कहीं चूक न जाये। रील को साँस फुला, थरथराते सारी कथा सुनायी, संकट इतना अतिरंजित कर बताते शर्म भी आयी।

रील बोली, "तुम ज़रुर किसी कुलटा के साथ उलझे, उसी ने तुम्हें चकमा दिया होगा।"

"तुम्हारी कसम, बिल्कुल सच कह रहा हूँ।"

पल भर मौन रहा। "क्या करुँ?" बोली। "मां को अकेला नहीं छोड़ सकती।"

"कम-से-कम तार से पैसा ही भेज दो। इस फ़ंदे से तो निकलूँ।"

"अच्छा ठीक, पता लिखाओ।"

जगह बतायी।

स्त्रियों ने वचन निभाये तो रुपयों के दो तार मिलेंगे, हालाँकि कौन क्या करेगा और बात क्या से क्या हो जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता। अलबत्ता, किस्मत से रील और रोजली फोन पर पकड़ में आ गयीं—यानी इतना पक्का, अभी तबाह नहीं होऊँगा।

बाहर निकलते, ठण्ड से, हवा से और घबराहट से बिल्कुल चकनाचूर हो गया। सुपरबाज़ार में घुस दूध का पैकेट और ब्रैड स्लाइस खरीदा। अब सिर्फ चौरानवे सैंट बचे। झुटपुटा हो चला था। निशान नोट करने के बावजूद होटल लौटने का रास्ता भटकता रहा। ठण्ड इतनी बढ़ी, नाक सुन्न पड़ गयी। कुहरे भरी धुंध ने अँधा

कर दिया। हर क्षण जेब में कमरे की चाबी और होटल का पता लिखे कागज का टुकड़ा चेक करता रहा। भीड़ भरे फुटपाथ के किनारे किसी की गिरायी ब्रैड-स्लाइस के कड़े टुकड़े पर कबूतर चुग रहे थे। पकड़ पा रहे न छोड़। उन जन्तुओं के प्रति दया और उनके सृष्टा के प्रति क्रोध उमड़ आया। इन्होंने कड़ाके की इस सर्दी में रातें कहाँ बितायी? ठण्ड और भूख के मारे बिचारे! आज रात ही मर न जायें! टुकड़ा उठा उनके लिए मसल देता, मगर पास जाते उड़ जायेंगे। अपना ही ब्रैड-स्लाइस निकाल, टुकड़े कर, उनके आगे फैलाने लगा। राहगीर मुझे धकाते आगे बढ़ते गए, लेकिन कबूतरों ने मेरी भेंट स्वीकार कर ली । टुकड़े चीर धीरे से उनके पास सरकाता रहा।

पुलिसमेन आया, "ट्रैफिक मत रोको। मालूम नहीं रास्ते में कबूतरों को खिलाने की कानूनी मुमानियत है?"

"लेकिन वे भूखे हैं।"

"कैसे भूखे?" क्रोध भरी आँख दिखा बोला।

मैं चलने को हिला, लेकिन वह जैसे पलटा मैंने ब्रेड का दूसरा टुकड़ा फेंका। चौंक कर, कबूतर उड़ गए। यहूदी रहस्यात्मक धर्मशास्त्री, याने कब्बाला-पंथी, सही कहते हैं: समस्त सृष्टियों में हमारी ही निम्नतम है। यहाँ शैतान की हुकूमत चलती है। किसी को रोक होटल का रास्ता पूछा। भौचक देखा, दरवाज़े पर ही खड़ा हूँ।

क्लर्क ने पूछा, "कब तक रुकना है?"

"दो एक दिन। तार से पैसा आने वाला है।"

संदेह से मुझ पर निगाह फेरी, "परसों के बाद से तुम्हारा कमरा किसी और के लिए रिज़र्व है।"

ऊपर पहुँच खाना खाने बैठा। दूध और ब्रैड में क्या मज़ा आया, पूछो मत। हर निवाला ताज़गी देता। रोशनी आधी थी। गरीबी की पवित्रता का स्वाद लेता रहा। एकाएक लगा मेरे पास पहचान का कोई प्रमाण नहीं है। पैसा आया भी तो मुझे देने में आनाकानी कर सकते हैं। तब क्या करूँगा? उसी क्षण ऊपर आते दौड़ते कदमों की आवाज़ सुनाई दी और दरवाज़े पर उतावली दस्तक। कूद पड़ा। हैंडल घुमाते उँगलियाँ बेढंगी कसती गयीं। हॉल से आते उजाले में क्लर्क और दूसरे कुछेक लोग दिखाई दिये।

एक बोला, "इतना अँधेरा क्यों है?" फिर मेरा नाम पुकारा। आनन-फानन सब साफ हो गया। मुझे आमंत्रण देने वाली संस्था पूरा नगर ढूँढ रही थी। मैंने कमरे की बत्ती जलायी। भद्र समुदाय के बड़े लोगों की शक्लें दिखीं हर कोई एक साथ बोला। वे सारा दिन मुझे खोज रहे थे। होटलों, रेलवे-स्टेशनों और हवाई अड्डों पर पूछताछ की। पुलिस को सूचना भेजी। स्त्री ने जिसके पास मेरा ब्रीफकेस था, फोन किया। किसी एक को ग़लत होटल पहुँचने की बात सूझी। जहाँ कमरा रिजर्व किया गया उस आलीशान होटल से इस अभागी जगह का मिलता-जुलता नाम था।

इतराते कोई बोला, "हमसे छिप नहीं सकोगे, जनाब।"

"ये तो शेरलॉक होम्स निकले, " पहले के कंधे पर हाथ थपथपा दूसरे ने कहा।

मजाकें चलीं, खूब हँसे। संस्था के अध्यक्ष ने स्वयं परिचय दिया और कनखियों से आधी ब्रैड और दूध की ओर उपेक्षित भाव से देखा। "इसी वक्त साथ चलिए!" चिल्ला पड़ा। "पूरे हॉल के टिकिट बुक हो चुके हैं।"

"भाषण की कापी?—वह तो ब्रीफकेस ही में है।"

"किसी को भेज बुलवा लेंगे। सिर्फ पंद्रह मील दूर है। जिस स्त्री के पास ब्रीफकेस है वह संस्था की मेम्बर है।"

"लेकिन इसी पते पर तार से पैसा आएगा।"

"फिक्र मत कीजिए, आपके होटल पर पहुँच जाएगा।"

एक ने बैग उठाया, दूसरे ने ब्रीफकेस बगल में दबाया, जो अब बंद नहीं हो रहा था। मैं बोला होटल का बिल चुकाना है, अध्यक्ष बोला-सब हो जाएगा। नीचे भौचक क्लर्क आँखे फाड़ देखता रहा। सिर नवा क्षमा मांगी। किसी फोटोग्राफर का बल्ब चमका। मैं घटनाचक्र के मज़े लेने की अपेक्षा उदास हुआ। शैतान मेरे ख़िलाफ षड़यंत्र कर रहे थे। खूब जानता हूँ, ये कोई आखिरी दांव नहीं है उनका।

आलीशान कार से भव्य होटल पहुँचा। फटाफट दाढ़ी रगड़, नहा, कपड़े बदल रात के खाने के लिए रेस्तराँ में दाखिल हुआ, जहाँ ढेर लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। खाते-खाते, ब्रीफकेस आ पहुँचा। तभी स्थानीय अखबारनवीस इंटरव्यू लेने पास आया।

देर रात कमरे में लौट, रील और रोजली को फोन किया। राजसी होटल का डायल घुमाते कुछ ज़्यादा ही मज़ा क्यों न आये, खास कर जब ट्रेवेलर्स चेक्स से और भाषण से मिली अतिरिक्त रकम से जेब भरी हो। लेकिन दोनों ही स्त्रियाँ बाहर थीं। बिस्तर पर पसर गहरी नींद सो गया। अगली सुबह करीब दस बजे उठा, नहा धो नाश्ता खाया। होटल ही में तार से आये पैसों की प्रतीक्षा करता रहा। यों अब ज़रुरत नहीं, मगर जानने को उत्सुक था, वचन की पक्की हैं कि नहीं। और फिर , अपने क्लेशप्रद अनुभव में से बाहर उबर आना भी चाहता था।

एक बजे अध्यक्ष दोपहर का खाना खिलाने ले गया। इर्द-गिर्द घुमा नगर भी दिखाया। मोरिस शेपिरो के स्टोर के नज़दीक से गुजरे। वेस्टर्न युनियन ऑफिस पर नज़र पड़ी, नाश्ता किया वह केफेटेरिया भी दिखा। अध्यक्ष हाथ में सिगार पकड़ दोहराता गया 'म' छोटा-सा नगर है। उसके आकार के प्रति संकोचशील लगा।

मैं बोला, "फिर भी यहाँ गुम हो जाने का अंदेशा है।"

"असंभव।"

उसने नगर की शान बढ़ाती इमारतों के दर्शन कराये : म्यूज़ियम, स्कूल, एग्रीकल्चर कॉलेज। हालाँकि मेरी ज़रा दिलचस्पी नहीं थी। अभी तक थका, रात के खाने पर अध्यक्ष ले जाए उसके पहले कुछ देर सुस्ताने की सोचने लगा। आखिर होटल लौटा। धुँधलका छाने लगा। खिड़कियों के शीशे नीले हो गए। वही कपड़े पहने सो गया। बीच-बीच में ट्रेवेलर्स चेक भरा जेब थपथपाता रहा। नींद लग गयी।

दस्तक ने जगाया। रात हो गयी थी। भौचक उठा। याद नहीं रहा कहाँ हूँ। पैर सुन्न पड़ गए थे जैसे बुखार से उठा हूँ। दरवाज़ा खोला। हॉल की रोशनी में खूब परिचित दो चेहरे दिखे : रील और रोजली। मुँह फाड़े खड़ा रहा। रील जर्मन शरणार्थी-शिविर में मिला भद्दा फर-कोट पहने थी। सिर पर सफ़ेद शाल। रोजली भी फर-कोट पहने थी। हाथों में बड़े बैग। चकित, फिर भी जबर्दस्त ऊँघता हुआ।

रोजली बोली, "यहीं खड़े रहें क्या?"

दोनों ही ने खुद आ इस दुर्दशा से मुझे निजात दिलाने का तय किया होगा, उस दूसरी होटल में मैंने सोचा। या शायद राह में शिकागो से सवारी लेते हवाईजहाज में एक-दूसरी से मिली हों, लेकिन इतना निढाल उनसे क्या पूछूँ। स्तब्ध। बड़ी देर घूरता रहा। शैतान ने ज़रुर कोई नयी चाल चली—ज़रा आराम देना नहीं चाहा। रोजली की आँखें शरारत से और रील की दिल्लगी करती करुणा से भरी थीं। अब तो मेरा पतन हुआ समझो! या, प्रार्थना, जो मैंने मुँह से उच्चारी नहीं, देवताओं ने सुन ली!

जो बोला अपने ही कानों में गूँजा, "अरे, आओ, आओ। मेज़ल टोव। यह चमत्कारों भरी रात है।"

❑

कहानी

अम्माँ का आँगन

❑ डा0 सत्यपाल शर्मा

"मैंने कहा जी, ज़रा बाहर आकर देखना," कमला अपने पति आशुतोष को बड़ी ऊँची और शिकायत भरी आवाज़ में पुकारती है। उसका चेहरा तमतमाया हुआ है। आँगन की हालत देख कर वह आग-बबूला हो रही है। आज आसमान बिल्कुल साफ़ था और सारा दिन बहुत अच्छी धूप लगने की उम्मीद बँधी थी। पिछले कई दिनों के ठंडे-सील्हे कपड़ों और बिस्तरों को धूप में फैलाने की योजना थी। परन्तु आँगन और अहाते की दीवार की हालत देखकर कमला का मन बड़ा खिन्न होता है। घर के बाहर बनी तीन फ़ीट ऊँची प्लस्तर शुदा दीवार पर नागफनी की विभिन्न जातियों वाले गमले तो ज्यों के त्यों सजे हुए हैं। परन्तु बीच-बीच में सूखी डबलरोटियों का चूरा और बासी रोटियों के छोटे-छोटे टुकड़े बिखरे पड़े हैं। उधर आँगन के फर्श का भी यही हाल है। पूरी लम्बाई-चौड़ाई में रोटी के टुकड़े, बासी भात के दाने, तरी से नीचे बचे हुए चने और भुनी मक्की के दाने बिखरे पड़े हैं। ऐसा लगता है कि जंगल के पक्षियों को प्रीतिभोज का खुला निमन्त्रण दिया गया है। दीवार का खुला भाग देखकर तो कमला रो उठती है। कोई भी जगह तो साफ़ नहीं। पक्षियों ने अपनी बीटों से इसे पूरी तरह भर दिया है।

"मैंने कहा जी ज़रा बाहर तो आना," कमला ने एक बार फिर ज़ोर का चाबुक मारा है अपनी गुस्से भरी कठोर आवाज़ से। उसके दाहिने हाथ में पोचा लगाने का एक बड़ा-सा चिथड़ा है और दाहिने से उसने फ़िनाइल मिले पानी की बाल्टी पकड़ रखी है। उसके अस्त-व्यस्त केशपास और श्रृंगार विहीन कुम्हलाए चेहरे से ऐसा लगता है कि एक तो उसकी सुबह की सुस्ती अभी गई नहीं है और दूसरे झाड़ू-पोचे के काम ने उसे काफ़ी थका दिया है। घर में कोई नौकरानी नहीं, इसलिए सारा काम उसे ही करना पड़ता है। आशुतोष से उसे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह काम करने वाली की तलाश नहीं करता और उसने गृहस्थी के कामों में बस उसे जोत रखा है।

"सुबह-सुबह क्यों चिल्लाए जा रही हो, क्या मुसीबत खड़ी हो गई है?" आशुतोष अपना ड्रैसिंग गाऊन पहनता हुआ बाहर निकलता है, "कौन सा नया दृश्य दिखा रही हो आज। चिल्लाते रहने से क्या फ़ायदा। अम्माँ जी को आज फिर समझा देंगे।"

"कपड़े मैं अपने सिर पर फैलाऊँगी?" कमला आवेश भरे स्वर में बोलना शुरु कर देती है, "गन्दगी के ये ढेर कौन साफ़ करेगा? मैं किसी की नौकरानी नहीं हूँ जो हर रोज़ इन दीवारों और इस फर्श को रगड़-रगड़ कर साफ़ करती रहूँ।" और वह अपने पति का बाजू पकड़कर उसे उन-उन जगहों को दिखती है जो पक्षियों की बीटों से गन्दी और बदरंग हो गई हैं।

"अम्माँ जी की समझ में कुछ नहीं आएगा," वह और ऊँची आवाज़ में बोलने लगती है, "जिसे अपना परलोक सुधारने की ही फ़िक्र हो, वह कोई भी बात सुनने को तैयार नहीं होता और फिर मेरी किसको परवाह है। सारा दिन चूल्हे-चौके से फ़ुर्सत नहीं मिलती। छुट्टी का दिन झाड़ू-पोचा, साफ़-सफ़ाई और कपड़े धोने में निकल जाता है। क्या मजाल कि घर का कोई भी आदमी काम में ज़रा हाथ बटा दे और फिर अम्माँ जी को भी देख लो। इन्होंने कभी सोचा ही नहीं कि मुझ में भी कोई जान है—मैं भी किसी माँ की बेटी हूँ, और तुम्हारा हाल यह है कि माँ के सामने भीगी बिल्ली बने रहते हो।" और कमला दीवार की खाली जगह को अपने हाथ के चिथड़े से रगड़-रगड़ कर साफ़ करने लगती है।

आशुतोष अपने भीतर एक अपराध भावना लिए खड़ा रहता है। उसका बस चले तो वह तो घर का सारा काम स्वयं कर डाले परन्तु क्या करे, माँ-बाप ने उसे काम करने की आदत ही नहीं डाली। कमला पर पड़े काम के भारी बोझ को वह महसूस तो करता है पर क्या करे, वह काम करे तो कैसे करे। एक बार तो उसने घर की सफ़ाई के काम में कमला का हाथ बटाने की हिम्मत भी की थी परन्तु उसका मन्सूबा पूरा नहीं हुआ था। कारण था अम्माँ की घोर आपत्ति। उन्होंने कहा था कि घरेलू काम मर्दों के बस के नहीं होते। ये सब औरतों पर ही छोड़ दिए जाने चाहिएँ। आशुतोष जब भी छोटे-मोटे कामों में कमला का हाथ बटाने का उपक्रम करता है, अम्माँ उसके आड़े आ जाती है और वह उनके व्यंग्य-बाणों की मार से भयभीत होकर भाग खड़ा होता है। कभी वह कहती हैं कि घरेलू काम करने वाले मर्द कभी तरक्की नहीं करते और कभी कहती हैं कि औरत के सामने दब्बू बने रहने से मर्दानगी को बट्टा लगता है। वह कभी तो उसे रन्न-जनाना कह कर कोसती हैं और कभी ढाबे के मुंडू का-सा आचरण करने वाला बताती हैं। अम्माँ जब देखती हैं कि आशुतोष अपनी घर वाली के साथ हिल-मिल कर बातें कर रहा है और उसके हर आदेश को ज़रखरीद गुलाम की तरह मानता चला जा रहा है तो वह उसे अलग से बुला कर समझाती है—"बेटा! बीवी के इस तरह गुलाम बने रहोगे तो पछताओगे। इसके हड्डों में पानी मत डालो। यह काम नहीं करेगी तो सारी गृहस्थी चौपट हो जाएगी।" आशुतोष यदि घर का काम करता है तो भी बुरा बनता है और निठल्ला बैठा रहता है तो भी बुरा बनता है।

अम्माँ तो उसे एक निपट नालायक बच्चा ही समझती हैं, इसलिए आंगन में पक्षियों का मेला लगाने संबन्धी उसकी शिकायत पर तो वह बिल्कुल ध्यान नहीं देतीं कमला हर रोज़ चीखती है और आशुतोष भी उसके गुस्से को बिल्कुल जायज़ मानता है, परन्तु अम्माँ कान ही नहीं धरतीं सास को कोसते रहना तो उनके विचार में हर बहू की आदत होती है और कोई भी समझदार बुजुर्ग औरत नित्य नये कायदे कानून बघारने वाली, नये जमाने की छोकरियों को मुँह नहीं लगातीं इधर आशुतोष अपने आपको ऐसे दकियानूसी लोगों से घिरा महसूस करता है जो बदले हुए युग की बदली हुई बातों को न समझते हैं और न समझना चाहते ही हैं। वह कोशिश करता है कि कमला को कुछ आराम करने दे, सुख सन्तोष से बैठने दे और उसे कुछ अपने लिए और अपने बारे में सोचने का अवसर दे। परन्तु पुरानी मान्यताएँ आड़े आ जाती हैं। वह तो रसोई के बेहद थका देने वाले और एकरस काम में भी कमला को सहयोग देना चाहता है, परन्तु अम्माँ जी की पैनीदृष्टि से बचकर निकलना कठिन हो जाता है। उनकी नज़रों में वह जोरु का गुलाम नहीं बनना चाहता इसलिए उसे घर के बहुत से काम उनकी अनुपस्थिति में और उनसे छिपकर करने पड़ते हैं। औरत का हुकुम मानना तो अम्माँ की दृष्टि में सब से बड़ा अपराध है और शायद अपनी औरत की एक न मानने वाले और उसके साथ सख्ती से पेश आने वाले बिहारी भैया इसीलिए उनकी नज़रों में बहुत ऊँचे हैं। सदर थाना के दारोगा पंडित बिहारी लाल आशुतोष के चचेरे भाई हैं, परन्तु हैं सगे भाइयों से भी अधिक स्नेही और मददगार। उनमें यदि कोई दोष है तो बस यही कि वह जैसे थाने में सख्त हैं वैसे ही घर में भी सख्त हैं। औरत की बात सुनना तो दूर वह उसके साथ सीधे

मुँह बात करना भी ठीक नहीं समझते। अम्माँ उनकी मर्दानगी की दाद देती हैं।

अभी पिछले वर्ष जब आशुतोष अपनी छोटी बहन शशिप्रभा की शादी कराने नूरपुर गया था तो उसे अपनी इस अम्माँ और भाई की बड़ी कड़वी बातें सुननी पड़ी थीं। एक दिन सवेरे जब वह अपनी पत्नी और सालियों के साथ बैठा चाय पी रहा था और किसी बात पर हँसी के फव्वारे छूट रहे थे तो बिहारी भैया अचानक ही आ टपके थे और उसका बाजू पकड़ एक तरफ लेजाकर गुस्से से बोले थे— "ओए आशू! हमने तो अपनी औरत को जूते बराबर भी नहीं समझा और तू है कि सुबह शाम इसी के इर्दगिर्द मंडराता रहता है। तुझे समझ कब आएगी। तुझे इतना तो ख्याल होना चाहिए कि तेरी बहन की शादी लगी है। यह मौज-मस्ती छोड़ और जाकर टैन्ट हाऊस वालों का पता कर, कहाँ मर गए हैं साले। मैं कहाँ-कहाँ टक्कर मारता फिरूँ।" आशुतोष पानी-पानी हो गया था और बाद में तो वह लगातार दो दिन तक इस पुलसिए भैया के आगे-पीछे ही भागता रहा। शादी के बाद अम्माँ ने बिहारी भैया की प्रशंसा के ऐसे पुल बाँधे कि आशुतोष को कई दिन तक हीनता का अनुभव होता रहा।

आशुतोष बेचारा दो पाटों के बीच ख्वामखा पिसता जा रहा है। अम्माँ अपनी आदत से टस से मस नहीं होती और कमला है कि हर रोज़ अपना मूड खराब कर लेती है और फिर सारा गुस्सा निकलता है बेचारे आशुतोष पर। वह उसकी ताड़ना करती हुई सी कहती है "यह गाँव वाला मट्टी का घरौंदा नहीं है कि सारा गन्द-मन्द इसमें समा जाए। यहाँ तो फर्श पर पड़ी पानी की एक बूँद भी बहुत देर तक जलवा दिखाती रहती है और अम्माँ जी को देखो, भला पानी का प्याला यहाँ रखने की क्या ज़रुरत है। चण्डाल से चण्डाल पक्षी भी इसमें चोंचें मारते हैं और फिर ये रोटी के टुकड़े तो कई-कई रोज़ तक फर्श पर ही सड़ते रहते हैं। भला ऐसे सुघरता है परलोक? यह भी क्या दानशीलता हुई!" कहती हैं, "पक्षी बेचारे रात के भूखे होते हैं, इनमें भी हमारे जैसे ही प्राण हैं। इनकी देख-भाल हम नहीं करेंगे तो कौन करेगा? इनके कौन से हल चलते हैं, इनकी कौन-सी तनख्वाहें लगी हुई हैं जो मोल लेकर खाँ लेंगे।

आशुतोष कमला को समझाता है। कहता है, "रोटी के इन टुकड़ों से गन्द तो बेशक पड़ता है और यह भद्दा भी लगता है। पक्षी, बीटों के ढेर भी लगा जाते हैं। मैं यह सब मानता हूँ पर इन नन्हें प्राणियों के प्रति अम्माँ जी के दिल में जो दया-ममता है, वह तो अच्छी ही है। फिर जीने का अधिकार तो सब को है न! तुम बस यह समझ लो कि अम्माँ जी इन पक्षियों को चोगा डालकर इन्हें विश्वास दिलाती हैं कि इनसे प्यार करने वाले भी इस दुनिया में हैं।"

"हाँ, तुम भी ठीक कहते हो और तुम्हारी अम्माँ भी ठीक करती हैं। राक्षस वृत्ति तो मैं हूँ जो माँ-बेटे के पुण्यकर्म में बाधा डालती हूँ। ये पक्षी तो अम्माँ जी की दी हुई रोटी से ही जीते होंगे। जंगल में तो कुछ नहीं है न इन के लिए। दुनिया के सब प्राणि आप लोगों के दिए भोजन-पानी से ही तो जीते हैं। मैं कहती हूँ कि भगवान को इतना छोटा करके क्यों देखते हो तुम लोग। जिसने मट्टी के इन पुतलों में प्राण डाले हैं वह इनके जीने के साधन भी मुहैया करता है। दुनिया तुम्हारे दान पर नहीं टिकी हुई है। दानशील बनकर दुनिया की वाहवाही लूटने की तुम लोगों की यह प्रवृत्ति मेरी समझ में नहीं आतीं"

"वाह-वाही लूटने की बात बिल्कुल नहीं हैं कमला! तुम हमें ग़लत समझ रही हो। मैं तो नहीं कहता अम्माँ जी से कि आँगन में रोटी के टुकड़े फैलाओ। बल्कि मैंने तो उन्हें कई बार कहा है कि ये टुकड़े यहाँ न फैलाया करो, बुरा लगता है, आने-जाने वाले क्या कहते होंगे, पर मैं क्या करुँ वह सुनती ही नहीं।"

"सुनती इसलिए नहीं कि आपत्ति करने वाली मैं हूँ—उनकी बहू, जो सहज में ही उनकी बैरिन है। बेटा तो दूध-धुला है। वह तो बुरा हो ही नहीं सकता न। नेकदिल और धर्मनिष्ठ माँ का बेटा भी तो वैसा ही

होगा न।"

"बस-बस, कमला! बस, यह तह लगाने वाली बातें कम से कम मेरे लिए तो कहो नहीं और रगेदने की ज़रुरत नहीं। मैं कब कहता हूँ कि मैं नेक और धर्मात्मा हूँ। मैं तो जो कुछ हूँ तुम्हारे सामने ही हूँ। जैसा समझना चाहो समझ लो। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु बूढ़ी अम्माँ का तो थोड़ा-सा लिहाज़ करना ही पड़ेगा। इस उम्र में आदमी सनकी तो हो ही जाता है। तो समझ लो अम्माँ पर भी एक सनक सवार है, पक्षियों के लिए रोटी के टुकड़े बिखेरने कीं दाने नहीं मिलते तो रोटी ही बिखेरनी पड़ती है।"

"तो क्या रोटी के टुकड़ों की जगह अन्न के दाने बिखेरने देने से आँगन गन्दा न होता? पक्षी मुंडेर पर न बैठते? बीटों से दीवारें गन्दी न होती?"

"हाँ भई! गन्दा तो ज़रुर करते पर तब शायद सफ़ाई में इतनी कठिनाई न होती रोटी के टुकड़े शायद सब पक्षी पसन्द भी नहीं करते। अन्न को पका-पका कर खाने की प्रवृत्ति तो मनुष्य में ही है। कभी तुमने किसी घुटारी, गौरैया या फाख्ता को चूल्हा सुलगाते देखा है? मैं तो कहता हूँ कि पशु-पक्षियों को दाल-रोटी और दलिया-भात आदि खिला-खिलाकर हमने उनकी आदतों को बिगाड़ दिया है। हम उन्हें अपने जैसा कमज़ोर, सुस्त और रोगी बना रहे हैं। सभ्यता ने हमें बिगाड़ा है और हम प्रकृति को बिगाड़ रहे हैं।"

"देखो! मैं तुम्हारा भाषण सुनने के लिए खड़ी नहीं हुई हूँ। शब्दों की यह गठड़ी अपने क्लास रूम में ही खोला करो।"

"नहीं कमला! यह महज़ शब्द-जाल नहीं है बल्कि आज की एक बड़ी सच्चाई है। मैं भी सचमुच महसूस करता हूँ कि हम लोग जो इन पशु पक्षियों को खाने-पीने की बची-खुची, खट्टी-मिट्टी चीज़ें और बासी रोटियाँ डाल देते हैं, यह बिल्कुल ठीक नहीं है। इनका क्या है, ये तो खा ही जाएँगे। इनके पास वस्तुओं का गुण-दोष जानने के लिए न तो जानकारी भरी पुस्तकें हैं और न विश्लेषण कर देखने के लिए प्रयोगशालाएँ ही हैं। हमें इन पर कुछ तो दया करनी चाहिए।"

"और देखो! मूर्खता की भी तो कोई हद होती है। पक्षियों के पीने के लिए पानी के प्याले रखने वालों को इतनी बड़ी-बड़ी नदियाँ और खड्डे क्या दिखाई नहीं देते होंगे?"

"मैं वही तो कह रहा हूँ कमला! हमारी नदियों और सरोवरों में कितना मीठा, स्वच्छ और निर्मल जल होता है। फिर हम लोग जो ये डिब्बे या प्याले रखते हैं वे गन्दे भी कितने होते हैं। हम पक्षियों पर दया तो करते हैं परन्तु उनकी सेहत की चिन्ता हमें बिल्कुल नहीं होती"।

"फिर वही बात शुरु कर दी न तुमने। मैं पहले भी कह चुकी हूँ कि मुझे तुम्हारा भाषण नहीं सुनना है। यह कोई स्वास्थ्य विज्ञान की कक्षा नहीं है जो इस तरह बोलते चले जा रहे हो।"

"नहीं बोलूँगा बाबा ये सब बातें। मैं तो सिर्फ इतना ही कह रहा था कि अम्माँ का पक्षियों के लिए रोटी के टुकड़े बिखेरना बिल्कुल ठीक नहीं है। जंगल में क्या कुछ कमी होती है इन के लिए?"

"तो क्या तुम्हारे इस तरह बोल देने से समस्या हल हो जाएगी? क्या अम्माँ जी पक्षियों को रोटियाँ डालना बन्द कर देंगी? मुसीबत तो मेरी है। तुम तो नाश्ता-पानी करके कॉलिज चले जाओगे और फिर एक बजे लाड़े की तरह हाथ लटकाते आ जाओगे और बैठ जाओगे अपने साफ-सुथरे स्टडी रूम में। इधर मैं झाड़ू-पोचे में खपती रहूँगी अपने आप को। जब पूरी तरह टूट जाऊँगी न, तब होश आएगा तुम लोगों को।"

आशुतोष की माता श्रीमती रामप्यारी लम्बे समय से वैधव्य का जीवन बिता रही हैं। स्वभाव से वह कुछ कठोर हैं इसलिए बेटा और बहू दोनों उनसे डरते हैं। कमला अपने पति के सामने जिस तरह से ऊँचा बोलती है वैसा अम्माँ जी के सामने नहीं बोल सकती, इसलिए उसके दिल की भड़ास आशुतोष को ही सहनी

पड़ती है। अम्माँ के जाने का कोई और स्थान भी तो नही है इसलिए बहू के गले में तो रात-दिन ही फाँसी लगी रहती है। अम्माँ को न तो तीर्थाटन में रुचि है और न उनका मन रिश्तेदारों के यहाँ ही लगता है। बड़ी बेटी प्रेमलता बड़े सम्पन्न घराने में दी हुई है परन्तु क्या मजाल कि अम्माँ उसके शहर की ओर कभी मुँह भी करें। वह लड़की के घर रहना या उसका दिया हुआ कुछ खाना महापाप समझती है। इसलिए वह बेटे आशुतोष के पास ही रहती हैं और कमला के सिर पर हमेशा एक तलवार लटकती रहती है।

अम्माँ अपने बेटे के घर में पूरे अधिकार से रहती है और यहाँ हुकुम भी उन्हीं का चलता है। कमला की स्थिति एक मातहत से अधिक नहीं है। वह जी तोड़ श्रम करती है परन्तु सास के मुँह से उस के लिए प्रशंसा का एक शब्द तक नहीं निकलता। अम्माँ सुबह-शाम बड़ी ऊँची आवाज़ में भागवत बाँचती है तो आशुतोष को बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। कॉलिज कक्षाओं में नए पाठ्यक्रमों के आ जाने से उसे घर में बहुत तैयारी करनी पड़ती है। सुबह का समय ऐसा होता है कि उसमें मन एकाग्र हो सकता है। परन्तु नन्दलाल की रास के प्रसङ्ग जब उसके कानों में पड़ते हैं तो उसके पास पुस्तक और फाईल बन्द करके मन मसोसते रहने के सिवाए और कोई चारा नहीं रहता। उधर हनुमान मन्दिर का लाऊड-स्पीकर भी इसी समय दहाड़ता है और तीसरी मुसीबत है अम्माँ द्वारा आँगन को गन्दा किए जाने की कमला की शिकायत, जिसे सुन-सुन कर उसके कान पक गए हैं। उसने अम्माँ को समझाया भी है कि आँगन में रोटी के टुकड़े न फैलाया करें पर वह मानती ही नहीं। आंगन में बीटों के पक्के दाग़ लग गए हैं। अहाते की दीवार का भीतरी भाग भी इनसे चित्रित हो गया है। परन्तु अम्माँ तो मानो किसी की बात सुनने को तैयार ही नहीं। महापुण्य के इस कार्य में किसी भी प्रकार का बिघ्न उन्हें सह्य नहीं है।

आँगन का चिड़ियाघर बनते चले जाना कमला को बिल्कुल पसन्द नहीं। अम्माँ सुबह-सवेरे ही बरामदे में बैठ जाती हैं और इन्तज़ार करने लगती है अपने प्यारे पाहुनों का। रात का रखा रोटी का टुकड़ा उनके हाथ में होता है। इसे धीरे-धीरे तोड़ती हैं और आँगन में बिखेरने लगती हैं। सोचती हैं रातें कितनी लम्बी हैं, भूखे होंगे बेचारे पक्षी दया-ममता तो किसी में रही नहीं। पहले का ज़माना भी क्या था। लोग खाते भी जी भर थे और दूसरों के लिए लुटाते भी बहुत थे। अब क्या का क्या हो गया है। गृहस्थों ने तो अपने धर्म की तिलांजलि ही दे दी है। राम-राम-राम, इतना लोभ! इतना स्वार्थ, इतनी आपाधापी! मानुष जन्म तो है ही दूसरों की थाती कितनी आस मन में संजोए आते हैं ये पक्षी इन्हें भी तो प्यार चाहिए। ये हम पर विश्वास करते हैं तो क्या हमें इनका विश्वासपात्र नहीं बनना चाहिए? हमारे वक्तों के लोग पक्षियों में देवताओं के दर्शन करते थे। परन्तु अब? धौलाधार के जंगलों में बर्फ़ पड़ते ही लोग पशु-पक्षियों को मारने के लिए बन्दूकें उठा लेते हैं। इन्हें प्राण नहीं मांस दिखाई देता है इनमें। भला इन लोगों से कोई पूछे कि भगवान ने तुम्हें जो इतने पदार्थ दिए हैं, वे क्या कम हैं, और फिर यह सब कुछ केवल अपना पेट भरने के लिए ही तो नहीं है! इसमें दूसरों का हिस्सा भी तो है।

अम्माँ को बहू की कंजूसी बहुत अखरती है। वह सोचती हैं, "भला एक रोटी ज़्यादा बना लेने से कितना घाटा पड़ जाएगा। कितनी बार कहा है कि जीव-जन्तुओं का हिस्सा ज़रुर रखा करो। पर यहाँ सुनता ही कौन है। धर्म-कर्म का तो नाम ही न लो इस घर में। जीव-जन्तुओं के लिए एक-आध मुट्ठी दाने डालने में फिज़ूल ख़र्ची है और भरे पेट वालों की ख़ातिर तबज़ो के लिए जो हलुवे-माण्डे बनते हैं उनमें तो कुछ नहीं न लगता। और फिर ये पक्षी तो आँगन की रौनक होते हैं। क्या इस धरती पर इनका कुछ भी अधिकार नहीं है? ये हर रोज़ इस लिए यहाँ चले आते हैं कि ये हमें अपना समझते हैं। ये हमसे बातें करते हैं। हमें अपने गीत सुनाते हैं। और इस बहू को देखो, इसे इनका और कुछ नहीं सिर्फ़ बीट ही दिखाई देती है। इनकी मीठी-मीठी

बोली और चंचलता भरी उछल-कूद का जैसे कोई मोल ही नहीं। क्या ज़माना आ गया है। बहू कहती है आंगन गन्दा होता है। कोई मिलने वाला आएगा तो क्या कहेगा। लोगों के घर-आँगन कितने साफ़-सुथरे होते हैं और हमारा घर है कि पूरा बहेलियों का दरबा ही बन गया है। पर मैं कहती हूँ कि क्या ये रंग-बिरंगे पक्षी फूलों से कम हैं?"

अम्माँ को लगातार महसूस हो रहा है कि बेटा और बहू दोनों उसके इस कार्य को पसन्द नहीं करते। इसलिए अब वह फालतू रोटी का आग्रह नहीं करती और न बहू से बची-खुची या बासी रोटी की ही मांग करती हैं। अपनी थाली में से ही आधी रोटी बचाकर एक तरफ़ रख देती हैं और इस तरह दोनों समय के खाने में से आधी-आधी रोटी के दो टुकड़े निकल आते हैं। फुर्सत के समय वह इन्हें बड़े प्रेम से छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ती हैंऔर अपने दुपट्टे के एक छोर पर बाँध रखती हैं। दिन निकलता है तो आंगन में रौनक लग जाती है। चार-दीवारी पर बीसियों चिड़ियाएँ आ बैठती हैं। आँगन में सात-आठ घुटारियाँ नाचने लगती हैं। पास वाले आड़ू के पेड़ पर एक पहाड़ी कौवा भी मौके की ताक में बैठ जाता है। अम्माँ रोटी डालती है तो पक्षी धीरे-धीरे आगे ही आगे बढ़ते चले आते हैं। उनके आकार-प्रकार और उनकी मुखाकृतियों में निर्भयता साफ़ झलकती है। अम्माँ, उनकी इस आत्मीयता को देखकर गद्-गद् हो उठती हैं। आँगन, पक्षियों का अभ्यारण्य बन जाता है। यहाँ न उनको बाज़ के झपट्टे का भय है और न किसी गिद्ध या चील की ज़ोर-ज़बरदस्ती की आशंका है। कोई पक्षी अपने पंखों से चोंच को बार-बार पोंछता है। कोई पैरों पर मुँह फिराता है। कोई चोंच से अपनी पीठ खुजलाता है। कोई पंख फड़फड़ाता हुआ छलांगें लगाता है और कोई जंगल की ओर मुँह करके अपने संगी-साथियों और निकट संबन्धियों को बुलाता है। आँगन शब्दायित हो उठता है। दीवारों पर गीत विचरने लगते हैं, मुंडेरें मुखरित हो उठती हैं। हार-सिंगार के पेड़ पर नाना रंगों के फूल खिल आते हैं। घर के ऊपर विविध स्वरों वाला वाद्यवृन्द झंकृत हो उठता है। हवा में तरावट आ जाती है और आकाश में मेला लग जाता है। कमला इस सबसे अभ्यस्त हो गई है। सालों से वह यह दृश्य देखती चली आ रही है। यही आवाज़ें सुनती चली आ रही है। पक्षी इतने ढीठ बन गए हैं कि हाथ झटकते ही फर्रर से उड़ जाते हैंऔर दूसरे ही क्षण फिर वहीं आ बैठते हैं। बल्कि दूसरी बार वे और आगे सरक आते हैं।

अब तो यह हाल है कि संकट की घड़ियों में भी ये बजाए जंगल की ओर जाने के इधर ही आते हैं। बच्चे गुलेल के निशाने साधते हैं तो ये निरीह प्राणि बड़े आर्त्त स्वर में अम्माँ को पुकारते हैं। जब कोई बिल्ली किसी बीमार या कमज़ोर चिड़िया पर हाथ साफ़ करने की ताक में आ बैठती है तो वह सीधे ड्राइंग रूम में आ घुसती है और दीवार पर लगी स्वामी रामकृष्ण परमहंस की तस्वीर पर घंटों बैठी काँपती रहती है। कभी-कभी जब कोई बाज़ आकाश के इस टुकड़े पर उड़ानें भरने लगता है तो कुछ चिड़ियाएँ सारा दिन बरामदे की कड़ियों की बिरलों में छिपी रहती हैं। अम्माँ यहाँ भी उनके भोजन-पानी का प्रबन्ध करना नहीं भूलतीं कमला कभी-कभी रोटी की जगह भात या दलिया बनाती है तो अम्माँ इसका कुछ भाग एक पुराने टूटे हुए प्याले में अलग निकाल कर रख लेती है और फिर इसे या तो बाहर आंगन में रख देती है या फिर बरामदे के दासे पर टिका देती है। कभी कोई ढीठ कौवा भात का कोई बड़ा टुकड़ा अपनी चोंच में दबाकर भागने का प्रयत्न करता है तो बहुत से दाने इधर-उधर बिखर जाते हैं और झाड़ा-बुहारा हुआ आँगन गन्दा हो जाता है। पक्षियों के भोजन का यह पात्र किसी चिड़िया के चोंच मारने से कभी जब बरामदे में आ गिरता है तो कमला बुड़बुड़ाती हुई बाहर आती है और गन्दे हुए स्थान को झट-पट साफ़ कर जाती है। सोचती है कि कोई आएगा तो क्या कहेगा। कैसा स्टैण्डर्ड है इन लोगों का। गन्द डाले रखते हैं अपने चारों तरफ़, देहाती हैं ना पशु-पक्षियों के बीच रहते रहते स्वयं भी पशु-पक्षियों की तरह ही हो गए हैं। यह अम्माँ तो हमें कहीं का

नहीं रहने देंगी क्या मजाल कि समझदारी की कोई एक बात भी कन्नी बाँधे परिवार की स्थिति और मुहल्ले के स्टैन्डर्ड का कुछ तो ध्यान रखना चाहिए।

सवेरा हो गया है। धरती पर मानों पिघला हुआ सोना फैला दिया गया है। नीले आकाश पर सफ़ेद बादलों का इक्का-दुक्का टुकड़ा, सागर में आगे बढ़ती नाव की तरह दिख रहा है। सड़कों पर बसें, कारें और दुपहिया वाहन सरकने लगे हैं। दूधियों के बर्तन खनक रहे हैं और राह चलते लोगों की ऊँची-नीची बातों से हवा मुखरित हो उठी है। आज का दिन बड़ा साफ़-सुथरा है और उम्मीद है साफ़-सुथरा ही निकलेगा। अम्माँ खुश है। आँगन में बैठेगी तो उनके चारों तरफ रौनक लग जाएगी मन बहलेगा, वक्त गुज़रेगा, दान-पुण्य का काम चलेगा और ठंड से सिकुड़ा, मुरझाया, वीरान पड़ा यह स्थान जीवन्त हो उठेगा। हनुमान मन्दिर का भोंपू खुल गया है। आज मंगलवार है, इसी लिए हनुमान चालीसा का कैसेट लगा है। आवाज़ ऊँची रखने की खुली छूट है। बजरंग बली की जय-जयकार हो और कानों के पर्दे न फटें यह हो नहीं सकता। आज अम्माँ जी की झोली काफी भारी है। पिछले दो दिन लगातार बूँदा-बाँदी होती रही है। धौलाधार से उतरने वाली ठंडी तूफ़ानी हवाएँ कहर बरपा किए रही हैं। पक्षियों पर तो मानों पूरे दो दिन कर्फ़्यू लगा रहा है। और आज तो भगवान की कृपा ही है। अम्माँ की झोली में तीन दिन की रोटियाँ इकट्ठी हो गई हैं। सोचती हैं खूब मौज उड़ाएँगे ये पक्षी आज। भूखे भी तो होंगे तीन दिन के। इनके पास कौन सी गाड़ियाँ हैं जो दौड़-दौड़ाई करके बाज़ार से माल-मत्ता ले आते। फिर बेचारे इन मूक प्राणियों पर ध्यान भी कौन देता है। हमारे शहरी लोग तो इन्हें घर से बेघर करने में भी गुरेज़ नहीं करते। हम लोगों से तो ये पेड़ अच्छे जो इन्हें शरण देते हैं, आंधी-पानी से बचाते हैं और भोजन भी मुहैया करते हैं। और इधर हमारा हाल देख लो, घर आए मेहमानों को दुत्कारते हैं। विश्वास-पात्रों को ठगते हैं। प्रेम करने वालों को उजाड़ते हैं। हमारे तो घर गन्दे होते हैंन इन की बीटों से।

रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े धीरे-धीरे फैल रहे हैं, आँगन में और दीवारों पर पक्षियों का मेला लग गया है। कुछ पक्षी अपने छोटे-छोटे बच्चों को भी साथ ले आए हैं और अपनी चोंच से उनकी खुली चोंचों में चोगा डाल रहे हैं। कुछ पक्षी उछल-उछल कर एक-दूसरे को डराने धमकाने लगे हैंऔर कुछ मानों अपने प्रतिद्वन्द्वियों को चुनौतियाँ देने लगे हैं। भोजन की बहुतायत हो तो तन और मन दोनों स्वस्थ और सन्तुष्ट रहते हैं। रोटी के टुकड़ों की एक मुट्ठी भरकर अम्माँ इसे खुले आँगन में बिखेरती हुई बोलती हैं—

"जी भरकर खाओ। बहुत भूख लगी है न। पिछले दो दिन तो तुम लोग इधर आए ही नहीं। आते भी कैसे, इतनी तेज़ ठंडी हवा और बारिश ने तो सब को बेहाल कर रखा था। एक चिड़िया उड़ती हुई आती है और अम्माँ को ताकती हुई कुछ स्वर निकालती है, मानों कह रही हो। दादी अम्माँ! मुझे भी कुछ दो। दो दिन से भूखी हूँ। मेरे बच्चे भी आते ही होंगे। उन के लिए भी कुछ बचाकर रखना, सब कुछ ही न लुटा देना।"

"ले, तू भी ले।" अम्माँ कुछ टुकड़े उसके सामने भी डाल देती हैंऔर कहती हैं"क्यों री! कहाँ चली गई थी? तेरे लिए मैंने इतना कुछ रखा हुआ था।"

चिड़िया फिर चहक उठती है, मानों कह रही हो "दादी अम्माँ! आती कैसे, तुम जानती नहीं हो कि जंगल में जिस पुरानी ओई पर मेरा घर था उसे काट दिया गया है और मुझे वहाँ से बहुत दूर के जंगल में जगह मिली है। दस-पन्द्रह दिन तो घर बनाने में ही लग गए और उसके बाद तुम ने देखा ही है कि मौसम कितना खराब रहा है। धौलाधार पर कितनी बर्फ पड़ी, गाँवों की छतें कैसे लद गईं, खेत-खलिहान कैसे सूने पड़ गए।"

"ले, खा ले, तेरा ही हिस्सा था यह।" अम्माँ बचे-खुचे टुकड़े झाड़ देती हैंऔर गौरेया के छः-सात बच्चे चहकते हुए और एक दूसरे को धकियाते हुए आते हैंऔर अपनी नन्ही-नन्ही चोंचों से उन्हें बीनने लगते हैं। इसी बीच घुटारियों का एक बड़ा-सा झुण्ड वहाँ आ टपकता है।

"दादी अम्माँ! हमारा हिस्सा?" पूरा का पूरा झुण्ड मानों समवेत स्वर में पुकार उठता है।

"राजा की रसोई की मैहरी नहीं हूँ मैं, जो सारा दिन तुम्हें पका-पका कर खिलाती रहूँगी चूल्हा-चौंका उठ गया है। ठीक समय पर आते तो ज़रुर कुछ मिल जाता। अम्माँ ऐसे बतिया रही हैं जैसे कोई माँ देर से घर लौटने वाले बच्चों को डांटती है। इसी बीच एक कौवा काँय-काँय करता हुआ आता है और मुंडेर पर बैठकर अपने सिर को इधर-उधर घुमाता हुआ तरह-तरह के इशारे करने लगा है।

"समझ रही हूँ तुम्हारी बात!" अम्माँ उसकी ओर मुखातिब होती हुई कहती हैं—"पर मुझे पहले यह बताओ कि जब तुम्हें बुलाते हैं, तब तो कहीं दिखाई नहीं देते और आज बिना इत्तिला किए आ धमके हो। कहाँ से लाऊँ मैं तुम्हारे लिए पकवान। मुझ में अब इतनी हिम्मत नहीं है भाई। देखते नहीं हो आटा कितना महँगा हो गया है? पर तुम क्या जानो दुनिया कहाँ से कहाँ जा रही है। जंगल के वासी हो न।"

"कौवा, काँय-काँय ज़ारी रखता है, मानो कह रहा हो—दादी अम्माँ! इतनी निर्मोही तो न बनो। तुम्हारे सिवा हमारा है ही कौन? जहाँ जाते हैंडाँट पड़ती है। बच्चे मारने को दौड़ते हैं। औरतें थापियाँ दिखा कर डराती हैं। जामुन पर बैठते हैं तो माली निशाना साधता है। कोठियों के अहातों पर जाते हैं तो पालतू कुत्ते खाने को दौड़ते हैं। घराट पर जाते हैंतो घराटी भगाते हैं। जाएँ तो जाएँ कहाँ! हमें रोटी मत डालो, पर दो घड़ी आराम से बैठने तो दो।"

अम्माँ भीतर जाती हैं। उनके सिरहाने के नीचे कुछ दिन पहले का रोटी का एक टुकड़ा पड़ा है, उन्हें याद आता है। उसे लाकर वह कौवे को डाल देती है। कौवा इसे अपनी चोंच में दबाकर जंगल की ओर उड़ जाता है। इसी बीच तोतों का एक झुंड पास खड़े ओई के एक पुराने पेड़ पर आ विराजता है। अम्माँ थोड़ी देर इसे देखती रहती हैं मानों कह रही हों—शाबाश! अपना काम पूरा कर आए हो न। कितने मन कच्चे बेर कुतर लिए होंगे आज? फिर वह सहसा बोल उठती है—"जाओ, दफ़ा हो जाओं यहाँ से। तुम्हारे तो मैं मुँह तक नहीं लगना चाहती।"

तोते पहले की तरह समवेत स्वर में बोल उठते हैं मानों कह रहे हो—"हमें तुम से कुछ नहीं चाहिए दादी अम्माँ! हमारे पास किसी चीज़ की कमी नहीं है। हमें आता है अपने हाथों कमा कर खाना।"

अम्माँ कुछ आवेश में आ जाती हैंऔर बोलती है—"तुम लोग तो बाग़ के बाग़ उजाड़ देते हो। कच्चे फलों का ही सत्यानाश कर देते हो। इतनी बेदर्दी से तो चूहे भी किताबों और कपड़ो को नहीं कुतरते जितनी बेदर्दी से तुम आमों और बेरों को कुतर डालते हो। तुम से कौन प्यार करेगा। जाओ भागो यहाँ से।" और अम्माँ हाथ उठा कर बड़े ज़ोर से उनकी ओर झटकती है।

अम्माँ की दिनचर्या पक्षियों के साथ उनके वार्तालाप से ही शुरु होती है। छोटे-छोटे पक्षी उनसे इतना हिल मिल गए हैं कि कई बार तो वे उनके कंधों और सिर पर भी आ बैठते हैं। उनकी तली पर रखी रोटी को भी निर्भय होकर उठा ले जाते हैं। अम्माँ प्रायः काला शॉल ओढ़ कर रखती है और पक्षियों ने उनकी यही पहचान पक्की कर रखी है। जब वह बरामदे में पड़ी आराम-कुर्सी पर बैठकर शॉल से सिर-मुँह ढके ऊँघ रही होती है तो कोई-कोई गौरैया बार-बार उनके सिर पर आ बैठती है मानों उन्हें झकझोर कर कह रही हो—"उठो दादी अम्मा! अब कोई सोने का वक्त है?" और अम्माँ बड़े प्यार से उसे अपने ऊपर से उड़ा देती हैंऔर फिर पता नहीं क्या-क्या बोलती हैं। अपना काला शॉल ओढ़ कर अम्माँ यदि सड़क पर भी निकलती हैंतो एक दो

गौरैया ज़रुर उनके पीछे लग जाती हैं। वन प्रान्त के ये नन्हें-नन्हें प्राणि पीढ़ी-दर-पीढ़ी इन से परिचित होते चले जा रहे हैं और बरसात की लम्बी झड़ी वाले दिनों को छोड़कर शेष सब दिनों में ये अम्माँ के पास आते हैं।

अम्माँ को कोई लम्बी बीमारी नहीं भोगनी पड़ीं उनकी तबीयत केवल सात-आठ दिन ही खराब रहती है और उसके बाद बड़ी आसानी से उनके प्राण निकल जाते हैं। आशुतोष तो बेटा है इसलिए उसका शोकाकुल होना स्वाभाविक है। परन्तु दुःख कमला को भी कम नहीं। अम्माँ जी बड़े लम्बे समय तक उसके पास रही साहचर्य से थोड़ा बहुत लगाव तो पैदा हो ही जाता है।

मृत्यु के बाद की सारी औपचारिकताएँ विधिपूर्वक निभा दी जाती हैं। बेचारी प्रेमलता रोती-धोती आती है और रोती-धोती चली जाती है। बाकी रिश्तेदार भी एक-एक कर विदा हो जाते हैं। घर सूना पड़ जाता है। देहरादून के किसी स्कूल में पढ़ने वाले अमरीश और सुलक्षणा को अभी सूचित ही नहीं किया गया कि उनकी दादी नहीं रहीं घर बिल्कुल खाली-खाली सा लगने लगा है। अम्माँ जी का कमरा भाँय-भाँय कर रहा है। उसमें पड़ी चीज़ों पर अतीत का धुंधलापन छाने लगा है।

अम्माँ को गए बारह दिन हो चुके हैं। आशुतोष की छुट्टी अभी दो दिन और है। रिश्तेदारी को विदा करने के बाद उसे कुछ फुर्सत मिली है और कई दिनों बाद वह अपने अध्ययन कक्ष में बैठा है। स्नान-ध्यान के बाद कमला बरामदे में आ बैठी है। धूप की तपिश कुछ बढ़ने लगी है। संयोग की बात यह है कि कमला ने भी लगभग वैसा ही काला शाल ओढ़ रखा है जैसा कि अम्माँ ओढ़ा करती थीं उसे देख कर पहले एक गौरैया आती है, फिर दूसरी आती है और इसके बाद तो पन्द्रह-बीस और वहाँ आकर बैठ जाती हैं। कमला देख रही है कि इन पक्षियों के चेहरों पर उल्लास है, मन में एक मीठी आस है तथा निर्भयता और विश्वास तो मानों इनके चंचल पंखों पर चिपक ही गए हैं। इसी बीच सुनहली चोंच और सुनहले ही पैरों वाली पाँच-सात घुटारियाँ भी वहाँ आ बिराजती हैं और अपने चिर-परिचित स्वर में बोलने लगी हैं। जब सामने से कोई हाथ नहीं हिलता और जवाब नहीं मिलता तो बेचारी चुप हो जाती हैं। कमला इनके चेहरों पर लिखे लेख थोड़े-थोड़े पढ़ने लगी है। पुरानी बातें उसे उदास कर जाती हैं और वह मन मसोस कर रह जाती है। पक्षी, आँगन में तथा दीवार पर बैठ कर कुछ-कुछ बतिया रहे हैं। कमला उन्हें समझने की कोशिश करती है, परन्तु पिछले दस-पन्द्रह दिनों की थकावट उसे शिथिल किए दे रही है और फिर क्या होता है कि वह यकायक अपना मुँह और सिर शॉल से ढक कर ज्योंही सुस्ताने का प्रयत्न करती है कि एक चिड़िया उसके सिर पर आ बैठती है और मानों उसे झकझोरती हुई कहती है—"दादी अम्माँ! जागो, यह सोने का वक्त नहीं है।" कमला झट से मुँह बाहर निकाल लेती है और भीतर की ओर मुँह करके पुकारती है—"मैंने कहा जी, रात की दो तीन रोटियाँ पड़ी होंगी, ज़रा पकड़ा देंगे?" घुटरियाँ ज़ोर से बोल उठती हैं और गौरैयाएँ भी उनके स्वर में स्वर मिला देती हैं। शायद उन्हें विश्वास हो गया है कि दादी अम्माँ कहीं गई नहीं है। ☐

[87, चीलगाड़ी धर्मशाला, हि० प्र०]

नाम

❑ गीतांजलिश्री

मुझे पता था वह जग गया है। उसके तन में उठती प्यार की अँगड़ाई नींद की चौहद्दी को पार करके अचानक ग़ायब हो गयी। बढ़ा हुआ हाथ ठिठक गया। मेरा भी।

उसने भी सुन लिया।

वह ऐसे सवाल नहीं करता कि क्या उसकी याद आ रही है? इसलिये मैं चाह कर भी जवाब नहीं दे पायी कि पन्द्रह साल से होठों पर चढ़ा बस एक शब्द है वह नाम, यों इसलिये मेरे मुँह से निकल गया। मैं तो यहीं हूँ, सोती जागती, तुम्हारे सँग, पूरी तरह तुम्हारे पास।

अँधेरा था। और लिहाफ़ के बाहर ठण्ड थी। मैं जग चुकी थी। अनायास छिटक कर निकले लफ़्ज़ को वापस सोयी चेतना की सीमा में ढकेलना चाह रही थीं।

सहसा मुँह खोलने से डर लगने लगा। सोचने लगी क्या नाम है तुम्हारा? घबरा के उलटी-पलटी याददाश्त में वक़्त और जगह का तालमेल बैठाने लगी।

वह सोने का नाटक कर रहा था। उसके सीने पर स्थिर पड़े मेरे हाथ हटना चाह रहे थे। पर मैं भी सोने का नाटक कर रही थी।

उसने सोचा होगा नाटक बेमाने है। आँखें 'पक' से खोलकर घड़ी के चमकते 'डायल' पर निगाह डाली।

यह ऐन वही पल था जब मेरे वहाँ होने पर वह हर दफा आँख खोलता था। इतने बरसों में उसके साथ मुझे कभी घड़ी के 'अलार्म' ने नहीं जगाया। हर बार उसके ज़ेहन का अलार्म घड़ी के बजने के पाँच मिनट पहले टँकार देता, वह आँखें खोल देता और हाथ बढ़ाकर घड़ी पर नज़र डालकर उसके अलार्म का बटन दबा देता। घड़ी के अलार्म से ठीक पाँच मिनट पहले, उसके अन्दर का 'अलार्म' टँकारता।

ठीक पाँच मिनट पहले उसके भीतर आवाज़ हुई कि नाटक बेमानी है और उसने हर बार की तरह हाथ बढ़ाकर घड़ी का बटन बन्द कर दिया।

तुम्हें तो बेमानी आदतों को खूब समझना चाहिये, मैं निढाल पड़ी सोच रही थी, फिर क्यों यह तूमार बाँध रहे हो?

पर वह तो कुछ नहीं बाँध रहा था। धीरे से उठकर किचन में चला गया था और कॉफ़ी का पानी खौला रहा था। इलैक्ट्रिक कैटल में बिजली की सूँ-सूँ बढ़ते-बढ़ते धीमी होती गयी और फिर अन्दर पानी खलबल-

खलबल भाप उड़ाने लगा। कैटल का 'स्विच ऑफ़' हुआ तो बन्द दरवाज़े के नीचे से आती पीली बीमार-सी रोशनी झटके से थोड़ी और पीली होके आगे को सरक आयी।

चौकीदार कहीं दूर अपनी लाठी ज़मीन पर ठोंकता निकल गया। लगा ठीक खिड़की के नीचे था। मैंने हाथ उठा कर पर्दा अलग किया तो शीशे से छूटती बर्फ़ की फुरफुरी बाँह को कँपा गयी। लिहाफ़ कसकर मैं फिर उसी में दुबक गयी। चादर के उस हिस्से से सटी जहाँ उसके शीट की छाप रह गयी थी, ठण्डी।

जाड़ों में सुबह देर से होती है। मुझे अँधेरे मे ही घर के लिये चल देना होता। जँगल की बस्ती में इस माह का हमारा काम पूरा हो चुका था। सरकार की कानूनी कार्यवाहियों और ज़मीन-सम्बन्धी योजनाओं की जाँच की फ़ाइलें लेकर हम दो रोज़ पहले ही लौट आये थे।

अपने नोट्स मैं यहीं रख जाती थी। यहीं से आना-जाना होता था तो हर दफे ढो कर लाने में कोई तुक न था।

बस मैं आ जाती हूँ, फिर चली जाती हूँ।

मोपैड यहीं छोड़ के हम दोनों बस से जँगल के अपने इलाके में पहुँच जाते हैं। काम निपटा के यहीं लौट आते हैं। जल्दी आ गये तो कुछ रोज़ यहीं रह लेते हैं। फिर मैं, बस के समय के अनुसार, वहाँ लौट जाती हूँ।

वह कॉफ़ी बनाकर ले आया। मैं दिल में उठते हक्कार से बेचैन हो गयी। तुम्हारी, सिर्फ़ तुम्हारी। मैंने उसे लिपटा लिया। कितनी भरी हूँ मैं तुमसे, तुम मुझसे। जो मेरा है वह तुम्हारा है। जो मेरा नहीं उसका ज़िक्र ही क्या। कितना कुछ है जिसका ज़िक्र ही क्या।

ध्यान से मैंने उसका नाम पुकारा।

उस बात में कुछ नहीं बजुज़ आदत के। बेखुदी का हर बोल यों तूल देने लायक कहाँ? आदतों की दुनिया तो तुम्हारी भी है।

मैंने ही हँस कर उसे दिखलाया था कैसे वह कॉफ़ी का प्याला लबों से छुआने के पहले खाली होठों को चाटता है। तुम्हारी आदतें गिनाने लगूँ तो आधा दिन तो उन्हीं को सुपुर्द मिलेगा। लिखते हो तो कलम का कैप बायीं मुट्ठी में भींच कर दाहिने हाथ से लिखते हो? रातों में और निराले! फ़्लैट भर में बाकायदा घूम घूम कर सारे पर्दों को बायीं ही तरफ़ खींच देते हो। मेज़ के आगे रखी 'स्विवेल चेयर' भी बायीं तरफ़ मोड़ते हो, खिड़की का सामना करती हुई। ख़ब्तुलहवासी में की गयी इन हरकतों का क्या मतलब निकालोगे? जो बस करते रहे हो, इसलिये किये जा रहे हो। क्यों वज़न दोगे इन्हें?

काश नींद ही न आये कभी, मेरा शोरीलामन बोल उठा, जो मुझसे पूछे बग़ैर कोई मनमानी करवा जाये। कुछ कहलवा जाये। मुझ ही से।

मैंने याद करके उसे पुकारा।

"यही नाम है मेरा।" उसने मुस्करा कर कहा।

मुझे गुस्सा आ गया। यह क्या कि जब चाहो ठिठुर कर चुप हो जाओ, जब चाहो उसी बात पर मुस्करा पड़ो? अचानक यह सहज मज़ाक का विषय कैसे बन गया?

लिहाफ़ फेंक कर मैं उठ गयी। उसकी रबर स्लीपर में पैर डालकर बाथरूम में जा घुसी।

पर जाते-जाते उसे माफ़ कर दिया। मोपैड चालू किया तो मन बिलख उठा। सब कुछ यों छोड़ कर चली जाती हूँ। आदत नहीं पड़ी है अभी। या क्या आँसू ढलकाने की आदत पड़ गयी है?

"कुछ कहोगे नहीं?" मैंने इंजन बन्द कर दिया।

"कहोगी तो तुम," उसने हल्के से मेरे गाल पर मुक्की लगायी, "उससे।"

मैंने अँधेरे में मोपैड चला दी।

कैम्पस से बाहर होते ही दूर तक मेन-रोड़ चलती है। लम्बी, खाली, तेज़ रफ़्तार से भागती। मेरा मन तड़पता रहा। पीछे जो छोड़ आयी थी उससे छूट नहीं रहा था। क्यों जाना पड़ता है मुझे? कैसे चलेगा ऐसे? वह ही कब तक मानेगा? क्यों माने? हमारे साथ की अपनी माँगे हैं, वे कब पूरी होंगी?

चौराहा आ गया। दाहिने मुड़ते ही करीम की दुकान पड़ती थी। ढाबा हुआ करता था, जिसमें लालटेन लटकती थी और मिट्टी का चूल्हा जलता था। सड़क के किनारे बरसाती नाले को लकड़ी के पाट पर डगमग-डगमग करते पार करके हम वहाँ कबाब खाने जाते थे। उसी पाट के बासबब हमने हाथ पकड़ना शुरु किया था।

तब ढ़ाई रुपये के चार कबाब मिलते थे। साथ में रोटी और प्याज़ भी।

अब झोपड़ी के स्थान पर पक्की कोठरी है। सफ़ेद पुती हुई दीवारें जिन पर चढ़ी बेहया बेल फैलती ही जा रही है। अँधेरे में करीम का बोर्ड धुँधला है, पर कबाब की लज़ीज़ महक आ रही है। मेरा मन हल्की-सी ललक में मचलने लगा।

करीम गवाह है। पन्द्रह साल से। उसने हम मियाँ-बीबी को पैदल साईकल से, गाड़ी में आते देखा। बारह रुपये के चार कबाब बजुज़ रोटी के देने लगा। प्याज़ तब भी छिड़क कर। बच्चों को लेकर भी हम कभी कभी आते हैं, पर भूले भटके। हम दोनों ही नहीं चाहते कि बच्चों को बाज़ार के खाने की चाट लगे। फिजूल-खर्ची और चटोरापन दोनों बन्द। घर में ही कबाब बन जाते हैं।

बच्चे काफी होते हैं जीवन को सीधे ढर्रे पर लाने के लिये। खाने-पीने, आने-जाने सबकी गिरह कस जाती है। वक़्त बँधने लगता है। लौटने के दिन मेरी भी कोशिश रहती है कि उनके जागने के पहले घर पहुँच जाऊँ। स्कूल की तैयारी मैं कराऊँ।

गाँव की बस भी सुबह चार बजे पहुँचती है . . . . ।

बच्चों के ख़्याल पर मोपैड तेज़ कर दिया। करीम पीछे छूट गया। कबाब की बसीली हवा ने और दूर, पीछे से आती तड़प को तो पहले ही वापस ढकेल दिया था।

आगे घर है।

मैं मोपैड से उतर गयी और उसे ठेलती हुई गराज तक ले गयी। रुमाल में हर सिंगार के झरे फूलों को भर के किचन का ताला खोल, मैं अन्दर हो ली।

दस्ताने उतारे और ठिठुरे हाथों को रगड़ती बढ़ी।

यहाँ रात बाकी थी। बेबी मेरी जगह सो रही थी। पति के बगल में।

मेरे जाने पर वह कितनी खुश होती है। उसके लिये यही कुहकने की बात है कि हमारे कमरे में, मेरे पलँग पर पसर पाये!

वह पलँग पर सो रहा है। हाथों को यों तन पर सम्भाले कि जैसे डरता हो बेबी को अनजाने में लग न जायें। फिर वही—कमीज़ पर ही पजामा पहन कर सो गया है। लिहाफ के ऊपर उसकी जेब से झाँकता सिगरेट पैकेट में धीरे से निकाल देती हूँ।

वह हिलता है।

किसका नाम लोगे? मैं रुकी रहती हूँ। सोने का नाटक तो नहीं?

किचन में जाकर हीटर जलाती हूँ। दस्तानों के बावजूद हाथ सर्द हो गये हैं।

अब नींद नहीं आयेगी। मन में अजीब अकुलाहट है, बिखरी, थकान-युक्त, खोयी-खोयी। कुछ जुड़ा

नहीं है, कोई एका नहीं है। वक़्तों की गडमड है। 'जैट, लैग' हो जैसे।

'जैट लैग' नहीं पर कोई 'लैग' ज़रुर है। मेरे अरमानों में और इतिहास की निरन्तर फूटती जड़ों में।

डर गयी हूँ। उस पेड़ का कौन सा भाग हूँ, कौन सी जड़ से लगा, कौन सी शाखा-प्रशाखा, पत्ता, फूल . . .? बीज? सूखा, सड़ा, डसता . . . .?

"हैलो।"

उसकी आवाज़ मनोरम है, उसके हाथ कोमल हैं।

"बस वक़्त से आ गयी?"

मैं बेहद उदास हो जाती हूँ। चुपचाप उस पे टेक देकर बैठी हूँ।

उसे खूब मालूम है जंगल के कबीले में कानून और अधिकारों से सम्बन्धित जानकारी दिलाने वाली टीम के सदस्य कौन हैं। अख़बार नाम देकर रिपोर्ट छापता है। पर हर बात पे वह नाम लेना कौन सी सत्यवादिता है?

नाम न लेना भी सत्यवादिता नहीं।

सच आईने में झाँकता है तो झूठ का अक्स वहाँ कैसे नज़र आता है?

मेरी आँखें बन्द रहती हैं।

वह अपने लिये चाय बनाता है।

"आज दूध के लिये मना कर दिया। कल शाम का बचा है।"

"क्यों? रात तुम सबने पिया नहीं?"

"कल दो बोतल एक्स्ट्रा ले ली थीं सोचा था खीर बनाऊँगा पर रनदीवे आ गया और . . ."

"कैसा है?"

"हाँ . . . .।"

मेरे लिये भी एक प्याला चाय ढाल लाया। टोस्टर में टोस्ट लगाकर बन्द किया। धीरे-धीरे। एक वक़्त में एक काम। रोटी निकाली, टोस्टर का प्लग लगाना है तो रोटी नीचे रखी, प्लग लगाया, टोस्टर खोला, पैकेट से चार स्लाइस बाहर किये। पैकेट नीचे रखा फिर स्लाइस नीचे रखे। पैकेट बन्द किया, फ्रिज में रखा और तब टोस्ट लगाये। बिजली चलायी और आ के बैठ गया! मूढ़े पर पाँव फैला कर।

"टोस्ट लोगी?"

सुबह की रोशनी में उसका चेहरा। मैंने मुड़कर उसकी गर्दन से ड्रैसिंग-गॉउन अलग खिसकाया और अपनी गर्दन वहाँ लपेट दी। गले पर गर्मी फैलने लगी।

"बड़े दिनों बाद यह किया।" वह मुस्करा रहा था। इलज़ाम की तलछट नहीं, तेवर नहीं।

मेरे भीतर कुछ नर्म, कुछ भरा।

क्या तुम जानते नहीं किस कदर मुझमें समाये हुये हो? सोते भी होंठों पर तुम्हारा नाम आता है।

बताती हूँ तो वह मुझे सम्भालता है, प्यार और हमदर्दी से थपथपाता है। उसे खुद पर विश्वास है।

"चीज़ लोगी?" तोष में भीना स्वर। मैं घड़ी की ओर मुड़ती हूँ। जाऊँ बच्चों को उठाऊँ।

बेबी सो रही है। रात रनदीवे के बेटे के सँग देर तक धमा-चौकड़ी की है। पर स्कूल का वक़्त हो रहा है। धीरे से माथे के बाल हटाती हूँ, प्यार से पुकारने को होती हूँ . . . .।

पल भर को मन सतर्क हो जाता है। क्या नाम है, सोचकर, ध्यान से बोलती हूँ। ❑

Hira Lal Thakur
BADAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

खुलती हुई पाँख

❑ सुशील कुमार फुल्ल

"शिरीष, कहो तो मैं गाँव चिट्ठी लिखूँ?" मनीष के दादा ने पूछा।

"मैं सोचता था कि लुधियाना वाली ज़मीन बिक जाती तो गाँव वाली रहने देते।"

"हाँ, यही ठीक है। बाप-दादा की निशानी तो रहने ही दें।" लक्ष्मी ने बीच में आते हुए कहा। उसकी ससुर से खूब बनती थी।

"लेकिन वहाँ से खबर कोई उत्साहवर्धक नहीं।" शिरीष ने कहा।

"क्या लिखा है रामजी दास ने?" शिरीष ने पूछा।

"यही कि यदि ज़मीन ढंग से न संभाली जाए तो कोई भी उस पर कब्जा कर सकता है।"

"इतनी धाँधली तो कभी नहीं सुनी शहरों में।"

"कहीं कहीं अवैध कब्जे हुए तो हैं। जो लोग दिल्ली से उखड़ कर आए हैं, वे जहाँ चाहते हैं, डेरा जमा लेते हैं।"

"लेकिन हम तो दीवारें बनवा चुके हैं। कोई दीवारें फाँद कर थोड़े आ घुसेगा।" लक्ष्मी बिफर उठी थी। फिर बोली, "अजीब सरकार है! जो लोगों के घर-बार, ज़मीन-जायदाद तथा जान की रक्षा नहीं कर सकती, वह क्या सरकार हुई।"

"लेकिन कभी न कभी खुद जा कर ज़मीन देख तो आनी चाहिए। अब मैं तो पहले ही तुम लोगों पर बोझ हूँ। नहीं तो मैं ही जा आता।"

तभी मनीष आ गया था। बोला, "दादा जी, आज एक और खरगोशी ने बच्चे दिये हैं।"

"कितने?"

"चौदह।"

"ठीक है तुम्हारे दादा ने कभी खरगोश नहीं पाले लेकिन इतना बेवकूफ तो न बनाओ। चौदह चौदह बच्चे देने लगी तब तो तुम्हारा हॉल दो-तीन महीने में ही भर जाएगा।"

"तो इस में क्या सन्देह है। देखना दादा जी, मैं खरगोश ही खरगोश कर दूँगा। बस दो-चार साल की बात है . . . .।"

"दो-चार साल किसने देखे हैं . . . और अब तो बहुत साल हो लिया ज़िन्दगी का मेला . . . हाँ, मनीष, वैसे एक ज्योतिषी ने मुझे चालीस साल पहले शिमला में बताया था . . . ।"

"कि मेरे दादा जी नब्बे पार करेंगे।"

"अरे तुम्हें कैसे पता चला।"

"पिता जी, आप कितनी बार तो यह सब बता चुके हैं।" शिरीष ने कहा।

"अच्छा, शायद। अब मैं सचमुच बूढ़ा हो गया हूँ . . . मुझे घटनाएँ भूलने लगी हैं . . . लेकिन लक्ष्मी मेरी इच्छा है कि मनीष की शादी भी देख लूँ।"

"लेकिन पिता जी, अभी इसका कारोबार तो ठीक हो जाए . . . अभी तो शुरु हुआ है।"

"तुम लोग कुछ भी कहो . . . मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि मैं मनीष का विवाह देख लूँ।"

"पिता जी इच्छाएँ तो कभी खत्म नहीं होती।"

"हो जाएँगी बेटी। बस, ये सर्दियाँ निकलती दिखायी नहीं देतीं . . . " कहकर दादा चुप हो गये थे। उनकी आँखों में आँसू तैर आए थे। उन्हें एक अहसास हुआ कि जिस की जेब में पैसा है . . . उसी की बात मानी जाती है। वैसे तो घर में वे सब से बड़े थे . . . . सब उनकी मानते-सुनते भी थे . . . फिर भी कहीं उन्हें अहसास होता रहता था कि शिरीष की ही बात चलती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी विमुख या उदासीन हो जाती है . . . . फिर तीसरी पीढ़ी पहली पीढ़ी को संभालती है।

जब कभी उन्हें किसी चीज़ की ज़रुरत होती है, तो वह शिरीष से न कहकर मनीष से मंगवाते हैं और उनका पौत्र बड़ी खुशी से उनकी आवश्यकताएँ पूरी कर देता है। वह खुश हो जाते हैं तथा अपने पौत्र को समझाते हैं, "मनीष, ज़िन्दगी में दया और परोपकार को नहीं भूलना। अपने लिये तो सभी जीते हैं, जो दूसरों के लिये जिएँ, उन्हीं का जीवन सफल है। अब झूठेलाल का जीना भी क्या जीना है।"

फिर कभी वह चुहल करता और कहता, "दादा जी, आप मेरी कुछ तो मदद करो।"

"मनीष, तुम्हारा दादा तो मलंग है, पैसे के मामले में नंगमनंग है। पहले ज़माने में धन जोड़ने की शायद आदत नहीं थी, मैंने तो सोचा था—बेटे हैं . . . बस कट जाएगा।"

"तो कट तो रहा है।" लाजवन्ती ने कहा। दादी के चेहरे पर समय की झुर्रियां थीं। फिर वह मनीष से बोली, "मनी, कभी माता के ही दर्शन करवा दो।"

"मेरी प्यारी-प्यारी दादी अम्माँ . . . घुटनों में बल नहीं, साँस में दम नहीं . . . फिर जाएँगी कैसे . . और अभी तुम्हारे पोते के पास कोई टका नहीं है।"

"टके हो जाएँगे . . . माँ बुलाती है, तो घुटने चलने लगते हैं . . . . साँस अपने आप ठीक हो जाता है। झूठेलाल तो कहता था कि चारों धाम घुमा दूं लेकिन . . . और अब जीवन की संध्या हो गयी है।"

"अच्छा, अम्माँ, दो सौ खरगोश हो जाएंगे तो तुम्हें माता के ले चलूँगा।" मनीष ने दादी से आशीष लिया और कहा—दादी मेरे बच्चे मेरी राह देख रहे होंगे।

वह फार्म पर पहुँचा तो सुरेन्द्र बड़ा परेशान था। बोला, "डाक्टर सा'ब, जाल में एक बच्चा फंस गया है। उसका पांव निकल ही नहीं रहा।"

"अच्छा, मैं अभी देखता हूँ।" कहकर मनीष सीधा हॉल में चला गया।

पन्द्रह-बीस दिन का बच्चा। मुलायम-सा . . . कोमल-सा . . . उसका एक पांव पिंजरे की नीचे वाली जाली में इस तरह फंस गया कि निकल ही नहीं रहा था। मनीष ने बच्चे को आड़ा-तिरछा करके निकालने का प्रयत्न किया परन्तु व्यर्थ। बच्चे की आँखों में एक व्यथा थी . . . .अवर्णनीय याचना।

"कटर लाओ।"

"कटर?"

"हाँ।"

"क्या टाँग काटनी पड़ेगी?"

"हाँ. . ."

सुरेन्द्र घबरा गया। वह हकलाता हुआ दूसरे कमरे में गया और कटर ले आया। आर्द्र आँखों से उसने मनीष की तरफ देखा। मनीष का चेहरा निर्विकार था।

उसने कटर लिया और जहाँ टाँग फंसी थी, जाली की वह तार काट दी और बच्चे को मुक्त करवा दिया। वह क्षणभर के लिये लंगड़ाया, फिर फुदकता हुआ पिंजरे में घूमने लगा।

हॉल में ऊपर उन्हें हार्न सुनायी दिया। सुरेन्द्र बोला कोई आया है।

"आने दो।"

"मैं देख आऊँ?"

"नहीं, अपने आप आ जाएँगे जिसने आना है। ऐसे तो सारा दिन नीचे भागते रहोगे। यहाँ तो कोई न कोई चला ही रहता है।"

वे ऊपर आ गये थे। उन में बैंक मैनेज़र भी था और बाकी उसके सहयोगी। मनीष ने सोचा-फार्म देखने आए होंगे। अभिवादन के बाद वह बोला—कहिए कैसे आना हुआ?

"तुम्हारे लिये खुशखबरी है।"

"क्या?"

"तुम्हारा बैंक-लोन स्वीकृत हुआ समझो।"

"समझो से क्या मतलब?"

"आप शब्दों पर न जाओ। हमारा बैंक आप को आदर्श खरगोश-पालक मान कर अनेक योजनाएँ तैयार कर रहा है और हम धीरे-धीरे सारे प्रदेश में इस व्यवसाय को प्रोत्साहित करेंगे।"

"धन्यावाद।"

"क्या आज आप पंचरुखी पहुँच सकते हैं?"

"कितने बजे?"

"सायं चार बजे।"

"क्यों?"

"हमारे उत्तरी-क्षेत्र के महाप्रबन्धक आ रहे हैं। आज मास-लोनिंग (अनेक लोगों को ऋण देने का उत्सव) है। आप भी आइए। हमने आप के कागज़ भी तैयार करवा दिये हैं।" मैनेजर ने अहसान जताते हुए कहा।

"अन्ततः मेरी प्रार्थना स्वीकार हो गयी।"

"तुम्हारा तो बड़ा जेनुइन केस है। यहाँ तो सिफ़ारिशी भी हो जाते हैं।"

"ठीक है।"

"आप आ जाएँ तो बैंक की साख भी बन जाए। दो लाख का ऋण तो केवल आप का ही है। बाकी तो छोटे-मोटे ऋण हैं।" कहकर बैंक-मैनेजर तथा उनके साथी चले गए।

चार बजे पंचरुखी में बड़ी चहल-पहल थी। आस-पास के गाँवों से बहुत से लोग आए हुए थे। लेकिन अधिकारी भी पहुँचे हुए थे। आखिर बैंक एवं क्षेत्र की साख की बात थी।

कार्यक्रम सवा चार बजे शुरु हुआ। पहले स्वागत भाषण। बैंक मैनेजर ने कहा, "मैं अच्छा वक्ता नहीं हूँ। अतः जो ज़रुरी है, वही बोलूँगा। हमारे बैंक ने अनेक विकास योजनाएँ बनाई हैं। हम इस क्षेत्र का कायाकल्प कर देना चाहते हैं। कृषि एवं पशु-पालन के विकास के लिये कई योजनाएँ हैं। आप की खुशी होगी कि अंगोरा

फार्म के लिये सबसे बड़ा लोन हम एक आदर्श पशु-पालक (पशु-चिकित्सक) को दे रहे हैं। डिग्री लेकर भी उसने अपना व्यवसाय पशुपालन को बनाया है। मुख्य अतिथि अनेक व्यस्तताओं के होते हुए भी यहां पधारे हैं, उनका स्वागत एवं अभिनन्दन। उनकी उपस्थिति हम सब के लिये प्रोत्साहन सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं।"

फिर एक एक नाम पुकारा गया।

मुख्य अतिथि ने लिफाफों में बन्द ऋण बाँटने शुरु किये। जब मनीष की बारी आई तो मैनेजर ने लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधी . . . प्रसंशा की स्वर लहरियाँ हवा में तैर गयीं और सब बड़े प्रसन्न थे।

मनीष ने अपना लिफाफा लिया। मुख्य अतिथि ने उससे बात की और पीठ थपथपायी। तालियों की गड़गड़ाहट हुई और मनीष गौरवान्वित हो उठा।

चाय-पान पर भी मुख्य चर्चा का विषय डा. मनीष ही रहा। कोई छः बजे कार्यक्रम समाप्त हुआ। वह सब से पहले ऋण-पत्र अपने दादा को दिखाना चाहता था। वह बता देना चाहता था कि कोई उद्यम करना चाहे तो कोई न कोई रास्ता निकल ही आता है। आज वह बेहद खुश था।

"मनीष, मेरी दवाई ले आए?" दादा ने पूछा।

"अरे दादा जी . . . . "

"नहीं लाए न?"

"सच सच बताओ कितनी गोलियाँ बाकी हैं?"

"हैं दो-तीन।" उदास स्वर में दादा ने कहा। उनकी चिल्लाने की इच्छा हुई परन्तु तीखे स्वर में कैसे बोलें . . . . पैसा तो था नहीं उनके पास। और साँस का क्या पता कब निकल जाए। दमा भी क्या चीज़ है . . . न आदमी मरता है, न जीता है . . . फिर भी पता नहीं क्यों जीने की इच्छा बरकरार रहती है।

"तो अभी ला दूँ?"

"रहने दो। चौबीसों घण्टे कोई न कोई फरमाइश चली रहती है।" शिरीष बहुत चाहता था अपने पिता को लेकिन पता नहीं क्यों छोटी-छोटी बात पर बहस पड़ता था। अस्सी वर्ष के अपने पिता को अहसास करवाना चाहता था कि उन्होंने कुछ नहीं किया . . . . न अपने लिये कोई पैसा जोड़ा और न सन्तान के लिये कभी कुछ बचा कर रखा।

मनीष ही वह सेतु था, जो दादा का पक्ष लेता था और कई बार तो पिता से बहस भी कर लेता और कहता, "ठीक है आप ज़्यादा पढ़-लिख गए, ज़्यादा कमाने लगे, परन्तु यह आर्शीवाद किस का है, होता तो वह है जो परमात्मा को स्वीकार होता है, आप जो आज है, ठीक है, कल किसने देखा है, और मैं जो बन रहा हूँ, यह आप की कृपा है।"

दादा ने रोका भी लेकिन वह स्कूटर उठाकर बाज़ार चला गया था। लौटा तो साथ में चीकू भी ले आया। उसके दादा को चीकू बहुत पसन्द थे।

"अरे मनीष, तुम भी ले लो न।" दादा ने प्यार से कहा।

"नहीं दादा जी, आप खा लें।"

"क्या भाव आए?"

"आपको इससे क्या लेना?" शिरीष ने कहा।

"बीस रुपये किलो।"

"फिर क्यों लाए? रहने देते। इतने महंगे क्यों खाएँ?"

"महंगा-सस्ता सब चलता है। आप को साँस में राहत मिलती है, तो मुझे अच्छा लगता है।" फिर थोड़ा

रुक कर बोला, "दादा जी, एक बात बताऊँ।"

"हाँ-हाँ, कोई लड़की पसन्द आ गयी क्या?"

"लड़की की अभी बात न करो।"

"क्यों?"

"पहले कमाने तो लगूँ।"

"तो कमा तो रहे हो। पाँच से डेढ़ सौ खरगोश हो गए, और क्या चाहते हो? और भी हो जाएँगे।"

"अच्छा, दादा मेरी बात सुनो। मेरा ऋण स्वीकृत हो गया।"

"अच्छा। कितना?"

"दो लाख रुपये का।"

"अरे मनीष . . . . इतना तो वापिस करना ही मुश्किल होता है।" वह कुछ सोच में पड़ गए।

"बड़ा काम होगा तो ज्यादा आमदन होगी और आमदन होगी तो ऋण वापिस भी होगा।"

"लेकिन मुझे सारी उम्र ऋण से डर लगता रहा है। पहले तो लोग महाजनों के शिकंजे में फँसे रहते थे। ब्याज ही नहीं उतरता था, मूल तो कहाँ से लौटाते?" फिर सोच कर बोले, "चलो परमात्मा सब कुछ ठीक करेगा।"

"आप का आशीर्वाद चाहिए, बस। फिर देखो मैं कहाँ से कहाँ पहुँचने की कोशिश करता हूँ।"

वह बहुत ही प्रसन्न था। कहाँ तो बैंक वाले उससे अर्नेस्ट मनी माँगते थे, और कहाँ बस एक झटके में ही सब काम हो गया। उसे आज सब अच्छे लग रहे थे, अपनी मम्मी लक्ष्मी, दादी लाजवन्ती और अपनी छोटी बहन रचना सभी कुछ, घर की दीवारों में से खास गंध आ रही थी।

रात बहुत लम्बी हो गयी थी। वह शायद सोया ही नहीं था या झपकी लगी होगी। जल्दी जल्दी उठा और तैयार हो गया।

"अरे मनीष, आज इतनी जल्दी पैंट-कमीज़ कस ली, क्या बात है?" दादा ने पूछा।

"थोड़ा फार्म पर काम है। फिर बाज़ार भी जाना है।"

"मैं जानता हूँ. . . . सब जानता हूँ।"

"दादा, कुछ खाने को चाहिए, लाऊं?"

"मनीष, अगर हो सके तो गर्म-गर्म जलेबियाँ लाना। बुढ़ापे में जीभ लपलपाने लगी है। वैसे खैर जलेबियाँ तो मुझे शुरु से ही अच्छी लगती रही है।"

"जरुर लाऊँगा।" कहकर मनीष चला गया।

अभी बैक मैनेजर नहीं आया था। मनीष बड़ी शान से उसके कार्यालय में जा बैठा।

थोड़ी देर बाद मैनेजर ने अपने कार्यालय में प्रवेश किया और अखबार खोलते हुए मनीष को दिखाया, "देखिए आप की फोटो छपी है। मेरी तो कहीं पीछे रह गयी। बधाई हो।"

"फोटो छपने से क्या होता है।" उसने मैनेजर को दिलासा दिया। फिर भी वह बड़ा प्रसन्न था।

वह बैठा रहा। मैनेजर अपना काम करता रहा। चाय आ गयी थी। चाय खत्म होने पर भी दोनों चुप बैठे थे। जब मनीष थक गया तो उसी ने कहा, "सर, फिर मेरा केस अब तो क्लीयर है न?"

"कैसा केस?"

"ऋण का।"

"हाँ, पच्चीस हज़ार वाला तो स्पष्ट है। वह तो मेरे ही हाथ में है।"

"लेकिन दो लाख वाला?"

"दो लाख वाला. . . .या आठ लाख वाला . . .।"

"नहीं अब तो दो लाख वाला ही काफी होगा, मैं ढंग का हॉल बनवाऊँगा फिर खरगोशों की खेती होगी।"

"हो जाएगा।"

"कल जो उत्सव हुआ था, उसमें आप ने यह कागज़ दिलवाया था।"

"हाँ।"

"फिर?"

"फिर क्या? इसे पढ़कर तो देखो।"

मनीष चौंक गया। कागज़ पढ़ने लगा। देखा उसमें तो वास्तव में कुछ भी नहीं था। लिखा था कि अमुक अमुक व्यक्ति को दो लाख रुपये का ऋण दिया जाएगा बशर्ते कि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो जाएँ। शर्तें वे ही थीं—उसके नाम ज़मीन हो, उसके पास पच्चीस प्रतिशत अर्नेस्ट मनी हो, गारंटी हो।

पढ़कर वह चकरा गया। बोला, "सर, यह तो धोखाधड़ी है।"

"देखो मनीष, बैंक व्यर्थ में लुटने के लिये नहीं होते। शर्तें तो पूरी करनी ही पड़ती हैं। मेरी सहानुभूति तुम्हारे साथ है।"

"तो बैंक भी फ्रॉड करते हैं?"

"इसे आप फ्रॉड नहीं कह सकते।"

"तो क्या कहें?"

"देखो सरकार की कई नीतियाँ हैं। हमें आदेश आते रहते हैं कि इतना ऋण बंटना चाहिए। ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए। सो हमें करना पड़ता है।"

"अच्छा।"

"आप हमारी मजबूरी भी तो समझिए। अगर कल वाला उत्सव न होता तो हमारा बैंक तो पीछे रह जाता और खबर भी न छपती।"

"तो बैंक भी आजकल खबरें छपवाने के चक्कर में रहते हैं।"

"देखो आज का युग प्रचार-प्रसार का है। कुछ करो या न करो. . . .बस अखबारों में छपते रहो, कुछ न कुछ तो बनता ही है।"

"यह जो ऋण पत्र है, इसका अर्थ?"

"यह व्यर्थ है, पर रख छोड़ो।"

मनीष को बड़ा गुस्सा आया। अच्छा बेवकूफ बनाया उसका। सारी जनता में उसके दो लाख ऋण का प्रचार भी हो गया लेकिन मिला कुछ भी नहीं। उसने ऋण-पत्र के चार टुकड़े किये और मैनेजर की मेज पर रख कर बाहर निकल गया।

बिन्दु अपनी मेज़ पर बैठा मुस्करा रहा था। □

[कृषि विश्वविद्यालय पालमपुर, हि. प्र.]

कविता

यह एक उपस्थिति है :
सात कविताएँ

❑ नन्दकिशोर आचार्य

एक : कल का नहीं है यह

स्मृति नहीं है यह
किसी बीते हुए की
यह एक उपस्थिति है
खंडहर ही सही

और कल का नहीं है यह
आज का ही है
यह सीना
और यह जो इस में
उठ रहा है दर्द।

दो : किसने रचे ये खंडहर

हर रचना में
अपने को ही क्या
रचता है बारम्बार
रचनाकार?
तो किसने रचे ये खंडहर?

पर काल स्वयं किस का खंडहर है?

हे ईश्वर,
अब किसे प्रार्थना करूँ
तुम्हारे लिए?

तीन : मक़बरा

एक साबुत
बल्कि अक्सर शानदार इमारत ही
होती है मक़बरा

पर जब होने लगती है
खंडहर वह
हरिया जाती है!

चार : ठहरा जल है जैसे खंडहर

ठहरा जल है जैसे खंडहर
सूखी नदी के छोटे-से गढ़ढे में
उस जल को
बह गया जो—याद करता हुआ।

कभी वह भी याद करता है
पीछे छूट गये खुद को?
नहीं भी सही
घाटों को
जिनमें वह बहता था
सिमटा।

पांच : हरियाली खंडहर पर

यों ही आ गयी थीं तुम
खंडहर पर हरियाली

आ जाये
बरसात में जैसे।

इसलिए चला ही जाना था
तुम को
और खंडहर करती हुई उसे।

छ : हर दिन

हर दिन यह घर
थोड़ा-थोड़ा होता जाता खंडहर
हर दिन भविष्य
होता जाता है मूर्तिमान।

हर बार
नया हो जाता लेकिन खंडहर यह
करता जाता
अपने अतीत को वर्तमान।

सात : खंडहर सपना

सपना
देखा था जो कभी
हो चुका है खंडहर
खंडहर का भी लेकिन
सपना
है कोई अपना।

[सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-334001]

दो कविताएँ

❑ यादवेन्द्र शर्मा

कचहरी प्रांगण

धूल लगी किताब में
सूख गयी तितली है कानून

हवा लगते फुफकारता सर्प
नीला न्याय का आलोक

वकीलों के दफ्तरों
कोर्ट-कक्ष के बीच
सींग तुड़ाने आते हैं
उद्धत बैल
चलते शतरंज के मोहरे
काले कोट
कुछ सधे अय-कचरे
कुछ मध्यम
मार खाये और फटे चेहरों में
चुगने लगते अपना भाग्य
कानून जिन्हें छोड़ गया
अहाते में उदास

प्रकट होते पुलिसजन
अनुशासित और दबंग
यौनांगों सहित

व्यर्थ नहीं गये जिनके दीर्घ शरीर
शेड में मक्खियाँ चबा रहा
बूढ़ा अर्जीनवीस
रियासती लूट के
स्वर्ण काल की स्मृतियों से सराबोर

भीतर प्रभु मुद्रा में
न्यायमूर्ति रहते निमग्न
अदब से जाल फैंकते वकील

एक पेड़ के नीचे
जाने किस इन्तजार में
पुश्त-दर-पुश्त
बैठे हैंलोग

बरई

चुनाव में इस बार
हमारे शहर का कबाड़ी
बरई भी उतरा है
छोकरों ने साफ कह दिया है
कि उसके लिए
खून-पसीना बहा देंगे
वही होगा उनका मेम्बर

उन्हीं के कहने पर
बरई ने बदल डाला है परिधान
रैग्ज की पैंट-कमीज की जगह
पहनना शुरू कर दिया है
खद्दर का लम्बा कुर्ता-पाजामा और टोपी
मुहिम पर कभी डल जाता है
नोटों का हार

हाथ जोड़ता हँसता है
उसके भोले आत्मीय चेहरे पर
चमकते हैं
बीड़ियों के धूएँ से काले पड़े दांत
'बरई जिन्दाबाद!'—
नारा लगाते हैं छोकरे
हँसते हैं लोग-बाग

किस संवत प्रविष्टे को
बरई का दादा शहर में आया
नहीं जानता बरई का बाप
कूड़े गंदगी के ढेर के पास
जहाँ से लोग नाक पर रुमाल रख निकल जाते थे।
उसे देखा गया था
कुछ घिसी टूटी
जंग खाई चीज़ें चुनते जमा करते

शहर के पिछवाड़े
सरकारी ज़मीन पर जमा लिया कब्जा
आये गये हाकम थानेदार
मगर सबका सेवक रहा बरई का बाप

बड़ा हुआ बरई
सुधारा कारोबार
खरीदा एक खटारा साइकिल
ढोता रद्दी, खाली बोतलें, प्लास्टिक टूट-फूट
हो गयी सबसे वाकफीयत
अब अगर वह खड़ा है चुनाव में
किसी को क्या तकलीफ?

मगर बरई को आदत है बुरी हकलाने की
जिस पर खीझते हैं
बिरादरी के धनुआ और रूपलाल

वर्ना जितनी तरक्की पा गया वह
क्या कम है?
किसने हमें क्या दिया
पूछता है बरई
सबकी मिट्टी पलीद करता
खुश होते हैं श्रोता

कल ही शहर में आया था हाथी
छोकरों ने बरई को उस पर बिठा दिया
निकली झाँकी
गज भर की हुई बरई की छाती

ज्यों ज्यों पास आता गया चुनाव
घट गयी भूख-प्यास
समर्थकों ने छोड़ दिया साथ
सड़कों पर फर्राटे से दौड़ रहीं जीपें
आ रहे दिग्गज नेता
विशाल सभाएँ उड़ रही धूल
मगर रह गया बरई अकेला
घूमने लगता है सिर

मोह-माया सम्पन्न हो गया चुनाव
निकला परिणाम
चालीस हजार वोटों में से
बरई को पड़े बयालिस वोट

बरई को लगी शरम
अगले दिन काम पर न जा सका
पत्नी ने दिया दिलासा
मित्रों ने समझाया
पर सब बेकार

[एडवोकेट, कोर्ट, सुन्दरनगर, जिला मंडी, हि. प्र. 174401]

तीन कविताएँ

❑ महाराज कृष्ण संतोषी

सूई

सूई
दर्जी के हाथ में रहे
या किसी और के
कहीं भी पथभ्रष्ट नहीं होती

वह केवल
लिबास ही नहीं सीती
उन पर इच्छाएँ भी काढ़ती है
सपने भी जोड़ती है

वह आदमी को
हत्यारा नहीं
कारीगर बना लेती है

वैसे किसी से
कुछ भी नहीं कहती सूई
मगर जब ढींगे मारने लगते हैं चाकू
वह चुप नहीं रह पाती
चुभने लगती है चमड़ी में
जहाँ बची होती है
थोड़ी सी संवेदना

निर्वासन में सेब की याद

मैंने आईने में जो झांका
मुझे चेहरा नहीं
अपना गाँव दिखाई दिया

दौड़ आई एक नदी
गले लगकर मुझ से
बहुत रोई।
मेरे कंधों पर रख गई
अपनी पायल लहरें

एक पेड़ लंगड़ाता हुआ
मेरे पास आया
अपने पत्तों से
सहलाता रहा मेरा सारा बदन
हवाओं ने पल भर में
बुहार लिया
धूल भरा मेरा मन
और मेरे अंदर पकने लगी
एक ऋतु
लद गया लाल लाल सेबों भरा पेड़

आईने ने मुझ से कहा—
निर्वासन में सेबों को
याद मत कर
दुख पाएगा

वितस्ता : कुछ स्मृतियाँ

कहते हैं
नीला था तुम्हारा जल
और तुम अपनी नीलिमा में
निमंत्रण देती थीं बर्फ को

तुम अपने जन्मदिन पर
दूर दिलों तक तैरा करती थीं
तुम्हारी कलकल में
वीणा बजती थी सरस्वती की

फिर पता नहीं
मेरे जन्म तक आते आते
तुम कहाँ खो आई अपना रंग?

क्या तुम्हें पता भी है
कि तुम्हारे गंदले जल में
छलांग लगा कर अनगिनत बार
तुम्हारे नीले रंग की स्मृति में डूबकर
आत्महत्या कर चुका हूँ मैं
बहुत याद आता रहा
बुरे दिनों में
नीला रंग तुम्हारा

[द्वारा महा प्रबंधक दूरसंचार, तारघर भवन, जम्मू (तवी)-180001]

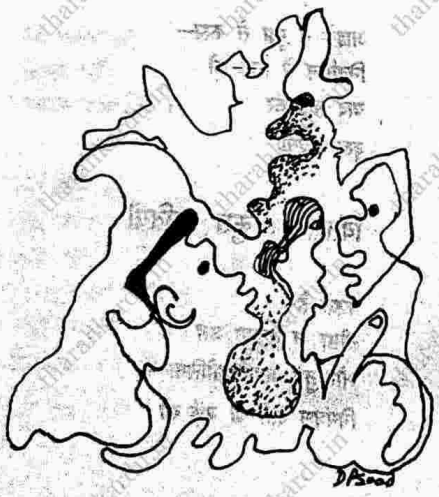

समीक्षा

आलोचना की सृजनात्मक तलाश

❑ सुरेश सेठ

रमेश चंद्र शाह की रचना 'सबद निरंतर' इधर हिन्दी साहित्य में लिखी गयी कुछ उन चन्द कृतियों में से है जो आलोचना को एक सृजन धरातल पर स्थापित करते हुए उसे पूर्वाग्रही मतवाद के संकीर्ण अँधेरे में से निकालने का प्रयास करती है।

पहली दृष्टि से कृति में से गुज़र जाने के बाद तो लगता है कि रमेश चंद्र शाह अपने चिन्तन को एक दार्शनिक गरिमा देने के प्रयास में बहुत महत्वाकांक्षी हो गये हैं। बहुत से विरोधी प्रश्नों की रस्साकस्सी पाठक के समक्ष में कोई साफ, सटीक या शफ्फाक उत्तर भी नहीं प्रस्तुत करती और तलाश को मात्र डेढ़ सौ पृष्ठों में समेटने का प्रयास लेकिन तनिक गहरे जायें तो पाते हैं, आधुनिक कवि कर्म को सृजन पथ पर न जाने कितने प्रश्न परेशान करते रहते हैं, शाह इन सब से जूझे। शब्द की सामर्थ्य का प्रश्न कि वह सत्य का साक्षात्कार करने में कितना सक्षम है सत्य का साक्षात्कार करने चलो तो दूसरा बड़ा मुद्दा 'शब्द—पुत्र' साहित्य के सरोकार का उभरता है! साहित्य का सामाजिक परिवर्तन से कितना सराकार होना चाहिए, या कि यह उसका कितना दायित्व है? आखिर इसका रचनात्मक अभिप्राय है क्या पर अभिप्राय की बात छिड़ती है तो उसकी धरती है आस्था और अनास्था का मूल प्रश्न क्योंकि आस्था ही तो जीवन मूल्यों की फसल उगाती है! लेकिन हम जो जिन्दगी जीते हैं। वह अनास्था और संशय की निरन्तर टूटन के कगार पर खड़ी है। चाहे पश्चिमी सहित्य में अनास्था का एक लम्बा सिलसिला था, पर भारतीय साहित्य की तो ऐसी कोई परम्परा नहीं रही फिर यह अनास्था, संशय का अँधेरा और मूल्य विहीनता कहाँ से हमारे साहित्य में प्रगट हो गयी? सृजन इस अनास्था को वहन करता चले, या इस लीक से हट कर आस्था को ग्रहण कर नये मानव मूल्यों का सृजन करे? शाह पूछते हैं?

लेकिन बात शायद इतनी सपाटता से रास्ता बदल लेने की नहीं है। समकालीन वास्तविकता को साहित्य के अंचल में समेट लेना एक बहुत दुष्कर कार्य है। शाह को लगता है यह तो एक बहुत बड़ा जाल है जिसकी बुनावट में न केवल बीसवीं सदी की विज्ञान, राजनीति और दर्शन की परिवर्तमान अवस्थायें हैं, बल्कि जिसे हम भाषिक संप्रेषण कहते हैं, उसकी भी बहुविध स्थितियों को अपने रचना कर्म में हमें झेलना होगा या उसका सामना करना पड़ेगा इसका एक कारण यह भी है कि साहित्य और विशेष रुप से काव्य में (पर केवल काव्य में ही क्यों?) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ज़िस धरातल पर घटित होता है, वह उस धरातल से बहुत अलग है, जिस पर कि दूसरे अनुशासनों में यह सम्बंध चलता है! लेकिन भारतीय साहित्य और दर्शन ही नहीं पूरे साहित्य शास्त्रों के अर्थ का अध्ययन करने के दौरान बहुत सारे चालू वर्गीकरण अपर्याप्त और अनर्गल लगने लगते हैं। जरुरत इन चालू वर्गीकरणों से अलग हटकर अपना रास्ता तलाश करने की है। रमेशचंद्र शाह की

'सबद निरन्तर' इसी तलाश की पैरवी करती चलती है। फिर इस तलाश के द्वारा समकालीन वास्वतिकता और भाषिक संप्रेषण का सामना करते हुए अपने बौद्धिक क्रियाकलापों और रचनात्मक प्रवृत्तियों का नये सिरे से मूल्यांकन करने की चेष्टा भी इसमें है।

पर जब हम नये सिरे से मूल्यांकन करने के लिए चलेंगे तो एक ओर कविता का आत्मसंघर्ष और दूसरी और कविता और समाज का सम्बन्ध भी अपने विरोधाभास के द्वारा हमें पूरे परिप्रेक्ष्य पर एक नये सिरे से सोचने के लिए मजबूर करेगा! फिर सृजन विचार का विस्तार भी तो होगा। क्या उसमें मनुष्य और ब्रह्मांड की सत्ता मात्र एकता का अनुभव नहीं बोलना चाहिए! लेकिन फिर यह भी तो देखना है कि कवि किसी अति उत्साह में कविता को तर्क के पीछे चलाने के प्रयास में उसकी ऐसी तैसी न कर दें। आदमी की मेधा को जीवन की पूर्णता और रचना की पूर्णता में से शायद चुनाव करना पड़े। एक के चयन में दूसरे का कुछ अधूरापन झेलना पड़े। लेकिन कविता की अपनी सामर्थ्य तो बहुत बड़ी है। वह साक्षी है, और दुभाषिये का काम भी करती है, कांक्रीट और एबस्ट्रैक्ट के बीच, रुप और अरुप के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच, मानव और प्रकृति के बीच। हम तो केवल अपनी सामर्थ्य भर कविता लिखते हैं। पर अपनी सामर्थ्य से कविता की सामर्थ्य को नापना, उसे मनमाने ढंग से परिभाषित और सीमित करना एक बहुत बड़ा झूठ है। कवि कर्म अगर इस झूठी धरातल पर खड़ा है तो उसका समाज के साथ सही सम्बन्ध कैसे जुड़ सकता है? आवश्यकता आज हिन्दी कविता को आत्महत्या का नुस्खा थमाने की नहीं, उसके साथ जिंदगी के नये, अछूते, अबूझ सत्यों की तलाश की है, और यह बंधे बंधाये तर्क व सांचे गढ़ कर नहीं होगा।

अब 'सबद निरन्तर' के विचार खण्ड यहां आ कर एक मोड़ लेते हैं, और जनतंत्र और समालोचना के सम्बन्धों को खंगालने की चेष्टा करने लगते हैं। शाह कहते हैं कि यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जनतंत्र और आलोचना के बीच एक सतही समीकरण बिठाने या दोनों के बीच घालमेल पैदा करने का निमित न बना जाये। पर साहित्य संस्कृति का निर्माण करने का महत्वपूर्ण साधन है, और जनतंत्र भी किसी देश की राजनीतिक संस्कृति का निर्माण करता है, इसलिए इन दोनों के बीच तालमेल या अन्तः क्रिया भी आवश्यक है। लेकिन इस सन्दर्भ में सब कुछ के राजनीतिकरण से भी बचना होगा। देखिए कहीं आलोचना भी जनतंत्र की तरह 'बहुमत के लिए , बहुमत द्वारा बहुमत का शासन' न हो जाये। आलोचना को मात्र एक अलग अनुशासन की तरह नहीं, बल्कि समूचे जातीय जीवन और साहित्य के पुनर्निमाण के एक साधन के रुप में देखना होगा , जैसा कि 'अज्ञेय' ने भी सोचा था। यहाँ आलोचना अनुभूति को विस्तृत और गहरा बनाने का अनिवार्य साधन हो जाती है। आलोचना में परखने और मुकाबिला करने की शक्ति, अर्थात् दानों है। हमारे स्वाधीन जनतंत्र की देहरी पर ऐसे ही 'आलोचक राष्ट्र' के निर्माण का सपना एक हिन्दी लेखक को देखना चाहिए। 'हिन्दु स्वराज' और 'भारतीय संस्कृति के आधार' सरीखे ग्रन्थ उसकी नींव हैं। लेकिन इस नींव पर क्या हम एक स्वाधीन सर्जनात्मक और आलोचक राष्ट्र का निर्माण कर पाये?

इसके बाद इस कृति में दो प्रश्न और उठाये गये हैं। एक तो यह कि साहित्य की आधुनिक संवेदना के लिए क्या उपयोगिता या सार्थकता है। निश्चय ही यह सार्थकता हमारे संवेदन के विस्तार में छिपी हुई है। पर साक्षरता के अभाव में देश के एक प्रतिशत लोग ही इस आधुनिक संवेदन से जुड़ पायेंगे? क्या ये एक प्रतिशत लोग देश के निर्माण कार्य में कोई योगदान दे सकेंगे? निन्यानवे प्रतिशत लोगों की तो सोचने और अनुभव करने की भाषा भी एक नहीं है, तो सब चीजें क्या यूं एक गतिहीन सह अस्तित्व में घिसटती रहेंगी? लेकिन हम अगर यह याद रखें कि केवल लिखता ही नहीं, अपने समय को पूरी ऊर्जा के साथ जीने का प्रमाण से भी जो रचनाकार देता है, वह हमें आधुनिक लगता है, फिर चाहे वह किसी भी युग का क्यों ने हो, तो शायद

इस समझ में से कोई रास्ता निकल आये। फिर जिसे हम आधुनिक भाव बोध कहते हैं, उसका एक प्रमुख घटक अतीत की चेतना भी तो है। इसलिए संस्कृति को एक पुल का काम भी करना है। संस्कृति के इस प ुल से गुजरते हुए रमेश चंद्र शाह अब भविष्य को लेकर साहित्य की चिंता के प्रश्न पर ठिठकते हैं। साहित्य अतीतोन्मुखी हो न हो, वर्तमान को झेले यह तो सही है। लेकिन भविष्य वक्ता होते हुए कही लेखक नम्बर दो का साहित्यकार तो नहीं हो जाता? लेकिन फिर भी भविष्य को ले अपने साहित्य में साहित्याकार को मानव जाति के भविष्य की चिंता और दूसरी ओर स्वयं साहित्य या उसकी किसी विद्या को लेकर कुछ चिंता तो करनी ही होगीं श्री अरविन्द के अनुसार साहित्य में भविष्य की चिंता"मानवता के नवयुग की तैयारी, श्रम और कर्म की गरिमा के आग्रह, भाषा, लय और रुपविधान की गहनतर शक्तियों को पाने की कामना" के साथ होगीं लेकिन अगर हम हक्सले, काप का और आरवैल की तहर 'भविष्य पर एकाग्र' साहित्य को फैण्टेसी या भविष्य पुराण का रुप देने लगे तो क्या इस तरह से हम भविष्य को साहित्य में अतीत बनाकर न रख देंगे?

और अन्त में शाह ने सृजन कर्म में दृष्टि और सम्प्रेषण का प्रश्न उठाया है। निश्चय ही यहाँ उन्होंने अपनी ज्ञान परम्परा में दार्शनिक वैज्ञानिक सत्य और साहित्यिक कलात्मक सत्य के बीच सामंजस्य की उम्मीद रखी है। सृजन कर्मी और समाजशास्त्री एक दूसरे की अर्न्तदृष्टि से लाभान्वित हों तो हमारे बीच फैल गया यह सांस्कृतिक दलदल थोड़ा—सा सूख जाये, वह कहते हैं।

'सबद निरन्तर' के विभिन्न विचार खण्डों में उत्तेजक प्रश्नोकं का एक सिलसिला सृजन और समाजशास्त्र के इस सामंजस्य पर आ कर ठिठक जाता है। कृति में हर अध्याय प्रश्नों की इस लय में उत्तरों की तलाश को आगे बढ़ाने वाला है, सिवा 'कला और कुमार स्वामी' शीर्षक वाले अध्याय के, जो चिन्तन के इस निरन्तर वहन में एक अवान्तर प्रसंग—सा लगता है।

इसमें सन्देह नहीं कि रमेश चन्द्र शाह की कृति 'सबद निरन्तर' ने जीवन के दिक्काल के सम्पूर्ण विस्तार और उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति को टटोल कर कुछ प्रश्न उठाये हैं। जीवन और साहित्य के जटिल अर्न्त सम्बन्धों और इसमें साहित्य की अपनी विशिष्अता का रेखांकन किया है। यह कृति यह भी स्पष्अ करती है कि साहित्य मात्र आत्माभिव्यक्ति नहीं आत्मसर्जना का विशिष्ट रुप है। इस कृति में सांस्कृतिक दलदल और संकीर्ण—मताग्रही तर्कों से अलग हट कर साहित्य में सृजनात्म3कता की स्थापना का पुनः प्रयास भी किया गया है। ' सबद निरंतर' से आलोचना एक सृजन कर्म के रुप में स्थापित हुई। इस कृति की विचारोत्तेजक। भाषा ध्यान आकृष्ट करती है।

यह कृति शब्द और सत्य की सीमाओं का वहन करती है। एक ओर है सत्य की असह्य ज्वाला से पलायन और दूसरे छोर पर है साहित्य को तलाश लेने की जिद। सत्य का साक्षात्कार कैसे होध क्या मात्र युग धर्मानुकूल अभिव्यक्ति का तेवर बदल कर हीध नहीं यह मनुष्य की चेतना शक्ति के जागरण के साथ होगा जो चीज़ो और सम्बन्धों से प्रभावित और परिभाषित होते हुए भी दोनों से उबरने की छटपटाहट लिये होगीं

पर इस कृति की सीमा और सामर्थ्य भी एक ही है कि यह रचना मात्र सार्थक सवालों का एक लम्बा सिलसिला उठाती चली जाती है, उत्तर तलाश नहीं करतीं इस उम्मीद के साथ कि ये सवाल उत्तर पाने की एक सृजनात्मक तलाश की प्रक्रिया को शुरु करेंगे। क्या यह प्रक्रिया शुरु होगी? ❑

सबद निरन्तर; रमेश चन्द्र शाह; वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर, मूल्य—65 रुपये

हिमाचल की समकालीन कहानियाँ : एक चयन

❑ केशवचन्द्र

हिमाचल में अस्सी के दशक में अनेक कहानीकार उभरकर सामने आये हैं। इस दशक में संकलन व व्यक्तिगत पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 1990 के अंत में **हिमाचल की प्रगतिशील कहानियाँ नरेश पंडित** के सम्पादन में प्रकाशित हुई। दिल्ली व पंजाब के कई दैनिकों में इस संकलन में सम्मिलित कहानियों के संदर्भ में टिप्पणियां छपीं। हर कथाकार की रचना मूलरूप में मानवीय सरोकार, सामाजिक चिंता लिये हुये है। कथ्य के स्तर पर या शिल्प को लेकर विद्वान समीक्षक भिन्न-भिन्न राय पेश कर सकते हैं।

पुस्तक संकलन में पहली कहानी 'डरपोक' ज़िया सिद्दीकी की है। ज़िया सिद्दीकी शिल्प के सधे हुये लेखक हैं। 'डरपोक' के प्रस्तुतीकरण में प्रतीकात्मक या संकेत शैली अपनाई गई है। नायक ने मां को कुछ नहीं कहा। भाई के पत्नी के साथ दुर्व्यवहार पर भी वह चुप रहा। पत्नी ज़रीना के शोर शराबे व भाई पर मुकद्दमा बनवा देने पर भी कुछ न कहा। स्वयं सारी स्थिति का मुकाबला किये बिना भाग गया। लेखक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की संस्कारहीनता, व्यावहारिकता के अभाव व पारिवारिक ढांचे में विघटन के कारणों के मूल की ओर संकेत करता है।

'धूयें में लुप्त एक याद'—पढ़ने के बाद भूलती नहीं। 'हिमेश' की इस कहानी का नायक लक्खु सामंतों के लिये सुन्दर और आरामदेह जूते बनाने वाला नूरपुर का मोची ही नहीं है। उसकी चमड़ा बनाने की अद्भुत कला और उसके माल की मांग अंग्रेज़ व्यापारियों के लिये एक समय पर मुनाफे का स्रोत रही क्योंकि उसके तैयार किये गये चमड़े की वस्तुयें इंग्लैण्ड तक जाती थी। परंतु मशीन-युग आने पर अंग्रेज जानबूझ कर लक्खु को समाप्त करने के लिये कानपुर ले जाते हैं। वहां से वह ऐसे गायब कर दिया जाता है कि वह कभी किसी को मिलता नहीं। हिमेश की कहानी का सूत्र इस उक्ति में है—"अंग्रेज़ व्यापारियों की मक्कारी व चालबाज़ियों से गंगा व जमना के मैदान भारतीय दस्तकारों की हड्डियों से सफ़ेद हो गये।" अंग्रेज़ों के उपनिवेश के विस्तार ने भारत की बढ़िया दस्तकारी का अंत किया। कानपुर अंग्रेजी भारत का मशीनी चमड़े के उद्योग का प्रमुख केन्द्र बना था। इस सूत्र का सूक्ष्म व कलात्मक परिपाक लेखक ने कहानी में किया है।

सुंदर लोहिया की कहानी **'मिलते जुलते चेहरे'** में सामाजिक उत्पीड़न का मुद्दा एक केंद्रीय चिंता बना है। नायक एक मुकद्दमें को लेकर समूची न्याय व्यवस्था का एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपनी समझ के अनुसार

मूल्यांकन करता है। वह इस समस्या को लेकर अपनी पत्नी से भी संवाद करता रहा है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ज़मीन बेचकर, गहने गिरवी रख कर भी न्यायालय से जीत प्राप्त करने की मृगतृष्णा चूकती नहीं। इन स्थितियों से जुड़े सब के चेहरे मिलते-जुलते ही नज़र आते हैं। यह अविवेकपूर्ण स्थिति सब इसलिये अपनाये हुये हैं कि समूची व्यवस्था शोषण मूलक है। कथाकार की विश्लेषणात्मक शैली व व्यंग्य का पुट-कहानी को बहुत प्रभावी बनाते हैं।

संग्रह की चौथी कहानी है योगेश्वर शर्मा की **'मलबे में दबी ज़िंदगी'**। रोशनु से रोशनलाल बना कहानी का मुख्य पात्र-गांव से नगर व महानगर की ओर पलायन करने वाले लोगों का प्रतीक है। प्रस्तुत कहानी में कथानायक को घर में उसके भाई-भाभी हर तरह सताते हैं। इस प्रकार के नाटकीय जीवन से मुक्ति के लिये हर रोशन गांव से भागता है। नगर व महानगर में पहुँचकर सबसे पहले ढाबे में बर्तन मांजने का काम करता है। कुछ वर्षों में कुछ पैसा कमा कर—रेहड़ी लगाने लगता है व फिर जगह मिल जाये तो ढाबा दुकान आदि चला लेता है। रोशन ने भी हज़ारों लोगों की तरह सरकारी ज़मीन पर अपनी आजीविका कमाने के लिये अवैध रूप से दुकान बना ली। एक समय पर सरकार ने रोशन की दुकान समेत कई अन्य मकानों व दुकानों के ऊपर भी बुलडोज़र फेर दिया। कहानी में लेखक ने समूची घटना को बहुत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। योगेश्वर शर्मा की व्यंग्य सिद्ध कलम मर्म पर चोट करने की क्षमता रखती है।

'स्केप गोट'—कहानी का नाम यही है—बलि के बकरे के ही अर्थ में। **सुशील कुमार फुल्ल** की इस कहानी में महाविद्यालयों के छात्रों, परिवहन उद्योग के चालकों-परिचालकों के आपसी टकराव की चर्चा है। छात्र अपने संख्या-बल का प्रयोग वाहनों में बलात् सवार होने व किराया न चुकाने की परम्परा विकसित करने में करते हैं। चालक-परिचालक अति भीड़ के बोझ व किराया न दिये जाने के कारण उनसे बराबर नाराज़ रहते हैं। झगड़े अक्सर होना आम बात है। कथाकार के धैर्य का यह कमाल है कि कहीं भी किसी भी समूह का पक्ष नहीं लिखा गया है। कहीं भी भावना के ज्वर से ग्रसित होने की स्थिति नहीं है।

श्रीनिवास जोशी ने अपनी कहानी **'डग्याली की रात'** की विषय वस्तु शिमला के भीतरी क्षेत्र के जन-जीवन में व्याप्त शोषण है। पुराने ठाकुरों का स्थान अब पंचायत प्रधान ने ले लिया। नूपा नाम के गरीब युवक की मंगेतर परमु 'डग्याली की रात' अर्थात् डायनों के मिलन की रात को बहाने से ठाकुर के घर रोक ली जाती है और नूपे को अनुदान राशि देने का दिलासा दे कर वहां से खिसकाया जाता है। श्रीनिवास जोशी की इस कहानी में स्थानीय बोली के शब्दों के मुक्त प्रयोग से उसकी सरसता व आंचलिकता परिपुष्ट हुई है। यह कहानी जातीय आधार पर शोषण, अन्ध विश्वास व प्रभावशाली कर्मचारी समुदाय द्वारा सरल व सीधे लोगों के उत्पीड़न को बेनकाब करती है।

श्रीवत्स की कहानी **'शेरनी की पूंछ'** विश्वविद्यालय में प्रचलित परम्पराओं को सामने लाती है। 'हैड' द्वारा समूचे कर्मचारी व प्राध्यापक समुदाय को व शोध-छात्रों को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये मनमाने ढंग से प्रयुक्त करना व 'हैड' के नीचे काम करने वाले सब लोगों द्वारा बिना रीढ़ की हड्डी के प्राणियों के समान रहना—बुद्धिजीवी समुदाय की वास्तविकता की पोल खोलता है। 'मिस सिन्हा' जो शोधार्थी है—हैड की उस पर कृपा है। बीच में एक अन्य शोधाकांक्षी श्रीराम आ जाता है और मिस सिन्हा से अनजाने टकरा जाता है। पहले वह 'हैड' के कोप का शिकार बनता है फिर हैड की पोल खुलने के बाद स्थिति फिर समझौते पर आ पहुँचती है। इस बुद्धिजीवी संस्कृति में 'हैड' भी अपने से ऊपर वालों के सामने दुम दबाने को विवश है। श्रीवत्स ने इस कहानी में शिक्षा जगत् के सबसे ऊँचे स्तर पर बैठे लोगों व उच्च शिक्षा का नमूना खोल कर सामने रखा है। भाषा व्यंग्यात्मक व स्थिति के अनुरूप है। मगर गांव के प्रभावशाली सवर्णों ने उसे भी जबरन उससे छीनकर—थोड़े

से पैसे देकर 'काली मां' को भेंट करने के नाम पर काट कर उदरस्थ कर दिया। बेचारा स्वारु उस मूक साथी के छिन जाने पर विक्षिप्त हो गया। **राज कुमार 'राकेश'** की कहानी का शीर्षक है **'निरबंसिया' अर्थात वंशहीन।** हर कोई साथ, सान्निध्य के लिये दुःख सुख में दो बोल सुनने—का, समय-असमय—क्रोध उतारने या पीड़ा हल्की करने के लिये, मर जाने पर क्रिया-कर्म के लिये संतान चाहता है। पर बेचारा स्वारु सब होने पर भी अकेला है। गरीबी एक ओर, तो प्रभावशाली लोगों का अत्याचार दूसरी ओर। प्राभावशाली लोग उसका आखरी साथी मेंढा भी छीन कर बलि चढ़ा देते हैं। कथाकार ने ग्राम्य परिवेश को बारीकी के साथ सामने लाया है।

'मातादीन अब नहीं है' यह **विजय सहगल** की संकलन में सम्मिलित कहानी है। शीर्षक ही स्वतः इस तथ्य को उद्घाटित करता है कि मातादीन का अब न होना विशेष अभाव का सूचक है। मातादीन कोई बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति नहीं है—छावनी का रिटायर चौकीदार सुबह ही घर से निकल कर बस्ती में बातों में मशगूल होने से लेकर किसी के बताये हुये काम को तत्काल करने को उद्यम रहता। सबके काम आता। पर उसके कोई काम न आता। वे बाल-बच्चे भी अपने आप में मग्न रहते जिनके लिये कि उस विस्थापित व्यक्ति ने पाकिस्तान चले गये किसी मुसलमान का पुराना मकान ही 'कस्टोडियन' से खरीद कर उनको उसमें परिंदों के नीड़ के बच्चों की तरह पाला था। तमाम सादगी के बावजूद कहानी का सम्प्रेषण सशक्त व प्रतीकात्मक बन पड़ा है।

रेखा की कहानी **'शंकरदास की चिट्ठी'** में शंकरदास के साथ जहाँ ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि भी आई है। वहीं पंजाब में बेगुनाहों के कत्ल की चिंता भी है। काम करवाने वाले मध्यम-वर्गीय परिवारों द्वारा उसको दिये जाने वाले पुराने वस्त्र, जूते, स्वेटर, झिड़कियाँ, बेरुखी और अनादर से शंकरदास की सदाशयता सामने आती है। लेखिका कहानी में सहपात्र है और शंकर के व्यक्ति में उसे कुछ ऐसे तत्व दिखते हैं कि वह भावुकतापूर्ण आत्मीयता से कई जगह उसको आदर का पात्र मानती है। अखबारी समाचारों व घर पर बर्तन मांज़ने वाले एक बूढ़े आदमी के गिर्द कहानी का ताना-बाना बुनने और उसे एक सार्थक व संवेदनशील कहानी बनाने में लेखिका की दक्षता है।

सुदर्शन वशिष्ठ की कहानियों में सरकार में पहुँचने वाले लोगों की तिकड़ियों, चालबाजियों और अपना राजनीतिक आधार मज़बूत और विस्तृत करने के लिये लोगों में गिरोहबंदी करने की स्थितियां प्रायः नये-नये रूपों में आती हैं। प्रस्तुत कहानी में सत्ता से जुड़े लोगों की मानसिकता को बेनकाव किया गया है। सुदर्शन वशिष्ठ की प्रस्तुत कहानी **'खतरनाक लोग'** में राजनीतिक विषय-वस्तु के बावजूद भाषा में जो ठण्डापन व निरपेक्ष भाव है वह अच्छा लगता है। सादी व बिना अलंकार की समझ आने वाली बेबाक शब्दावली।

कभी-कभी बचपन में देखी कोई घटना इतनी मार्मिक व प्रभावशाली होती है कि बहुत बाद तक भी भूलती नहीं। कुछ वर्ष पहले तक जब गांवों का जीवन सादा, सरल व बाहरी प्रभावों से मुक्त था तो गांवों में हैदर जैसे सरल व मौजी आदमी भी थे। पध्याणी जैसी महिलायें भी थीं, जो दया-माया से भरी पूरी थीं और हैदर की तरह के कर्मी की मदद के लिये तैयार रहती थीं। पध्याणी को खुदा शब्द से चिढ़ थी सम्भवतः इसलिये कि उसने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बनने के समय की अफवाहें वर्षों तक सुनी थी। परंतु सारा गांव हैदर को प्यार करता था। क्योंकि हैदर सबके यहां खेत मजदूरी करता—अनथक कामा था 'वह'—कहानी लेखक जो कहानी में बच्चों के समूह में से एक है हैदर की ही तरह खुदा या भगवान का अर्थ नहीं जानता। आम आदमी भगवान व खुदा के बारे में कुछ नहीं जानता बस सरल ढंग से श्रद्धा रखता है। स्वार्थी राजनीतिज्ञों के हाथ में जाकर ही पवित्र शब्द नफरत और खून खराबे के हथियार बनते हैं। भयंकर बरसाती बाढ़ में हैदर की मां, मौलवी व बच्चों समेत बह गए तो मारे दुख के वह बावरा हो गया था। तब कोई उससे पूछता, हैदर तेरा खुदा कहाँ है? तो वह वैसी मायूस सादगी से जवाब देता, सैह बी हड़ी गेया।" वह वास्तव में **अरुण भारती** की कहानी **'उसका खुदा'**—अपनी सम्पूर्ण संवदेनशीलता के साथ सामयिक स्थितियों से जुड़ कर अद्भुत प्रभावशाली

हो उठी है।

रवि सिंह राणा 'शाहीन' की कहानी **'बंजारे'** अपने छोटे कलेवर के बावजूद बड़ी बात कहने वाली कहानी है। अगर बड़ी बात से अतिरंजना का एहसास होता हो तो उसे ठीक बात मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। नगर-नगर बस्ती-बस्ती घूमने वाले ठठेरों का काम करने वाले या विशेष रूप से लोहे के बर्तन व अन्य उपकरण तैयार करने वाले बंजारे राजस्थान की चित्तौड़ रियासत को अपना घर व महाराणा प्रताप के परिवार को अपना वंशज बताते हैं। प्रस्तुत कहानी में बहरहाल बंजारों के उस समूह के ऐतिहासिक मूल नहीं—बंजारेपन में दरपेश आने वाली समस्याओं के बारे में चर्चा है। उसमें अस्थायी बस्ती का किसी नगर की सड़क के साथ ही खाली जगह पर निर्मित झोपड़ों को महल के समान, टाट के बिछाये जाने वाले टुकुड़ों को गुदाज़ कालीन समझना और रोज़ाना किये जाने वाले काम से प्राप्त पैसे से कच्ची शराब का आनन्द सपरिवार उठाना—किसी के लिये भी ईर्ष्या की बात हो सकती है। अस्थायी बस्ती में भी औरतों व मर्दों के वाद-सम्वाद मार-पीट, प्यार व हमदर्दी सब कुछ आबाद बस्तियों जैसा है। परंतु बंजारों के उस अस्थायी 'रैन-बसेरे' को भी उजाड़ दिया जाता है। कहानी में से सवाल उभरता है—क्या देश में बंजारों का कोई हिस्सा नहीं है? बंजारा क्या समूचे समाज का अंग नहीं है?

युगों से सत्ता शक्ति की प्रतीक है और शक्तिशाली लोग सत्ता का उपयोग निरंकुशता से करते आये हैं। केशव चन्द्र की कहानी मुखौटा में सत्ता के प्रतिनिधि का चेहरा बेनकाब हुआ है। जनता की धर्म व देवताओं में श्रद्धा है। मंत्री के चाटुकार लोग—इसीलिये मंत्री की तुलना देवताओं से करके उसे सर्व स्वीकार्य बनाना चाहते हैं। परंतु भूपसिंह नाम का पात्र सारी कहानी में इस ढंग से टिप्पणी करता रहता है कि देव-मुखौटे के पीछे छुपा सत्ता के प्रतिनिधि का चेहरा और मंत्री के चाटुकारों की वास्तविकता लोगों के सामने आती है। लोग भूपसिंह की टिप्पणियों पर मुस्कराते रहते हैं और इस प्रकार सच्चाई समझते हैं। शैली में व्यंग्य भी है, सामाजिक चेतना भी।

प्रकाश पंत की कहानी **'चंदो'** भी आकार में बड़ी नहीं है परंतु है सारपूर्ण। मानव मन पर स्थितियों व घटनाओं की जो स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है उसको सूक्ष्मता से पकड़ना व उनमें से कथ्य उठाकर कवितामयी सुगढ़ भाषा में प्रस्तुत करना—लेखकीय प्रौढ़ता का प्रमाण है। कहानी में मानवीय गुणों की चर्चा कैसे आती है जरा देखिये: 'चंदों' दूध सी गोरी और वह कोयले सी काली, लेकिन दोनों ही अति ममतामयी हो एक-दूसरे में घुल मिल रही थीं। प्रकाश पंत की 'चन्दों' कहानी प्रतीकात्मक भी है। यह रंग भेद की स्थिति को उघाड़ती है।

संकलन की अंतिम कहानी है, इसके सम्पादक **नरेश पंडित** की। शीर्षक है **'मांस-भात'**। शंकर जो गांव का गरीब किसान है। रोज़ नगर में मज़दूरी की तलाश में आता है। परंतु मज़दूर प्रातः आठ बजे से ही नगर के मुख्य चौक पर इकट्ठे होने लगते हैं और नौ बजे तक सैकड़ों की संख्या हो जाती है। नौ बजे 'सब्जी मण्डी' की तरह बोली लगती है। रोज़ श्रम के लिये बेरोजगार बिकता है। पर कभी ही सब को काम मिल पाता है। कहानी का शंकर भी इस स्थिति से गुज़रता है। काम न मिलने से कई बार घर में परिवार को भूखा ही सोना पड़ता है। क्रोध में आकर शंकर की पत्नी रम्मो कई बार रोटी मांगने पर बच्चों को थप्पड़ प्रदान करती। काम की बात मन की मन नरेश पंडित की कहानी में बेरोज़गारी का बढ़ता प्रभाव, और सत्ता से जुड़े राजनीतिज्ञों द्वारा लोगों को मात्र बातों से बहलाने की स्थितियाँ स्पष्ट अभिव्यक्ति पाकर आई हैं। शैली में हल्का व्यंग्य व स्थिति को चित्रात्मकता प्रदान करना लेखक का विशिष्ट अन्दाज़ है। निम्नवर्ग की स्थितियों के प्रति विशेष सचेत दृष्टि है।

'हिमाचल की प्रगतिशील कहानियाँ नाम के इस संकलन की हर एक कहानी के विषय-वस्तु को लेकर उपर्युक्त ढंग से जांचने से भी हर कहानी के समग्र स्वरूप या उसके एक पक्ष या कुछ पक्षों का समूचा सार सामने नहीं आता। फिर वैयक्तिक मूल्यांकन की सीमाओं को भी नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। संकलन की विशेषता सर्वप्रथम तो यह है कि इसमें सम्मिलित कहानीकारों को एक वाद या कैम्प विशेष का नहीं कहा जा सकता। फिर इस ढंग से आज लेखकों को देखने की दृष्टि भी बदल रही है। पुस्तक का शीर्षक 'प्रगतिशील कहानियां' रखा जाना बुरा भी नहीं है। प्रगतिशीलता केवल राजनीतिक ही नहीं होती। इस की व्यापकता पर लम्बी चर्चा हो सकती है। रचना मूलतः प्रगतिशील होती है—यह तो मुन्शी प्रेम चन्द का कथन रहा है। लेखक की ईमानदारी व लेखन के प्रति ईमानदारी—इसी में मौजूद है प्रगतिशीलता का सूत्र। आज ज़ीवन राजनीति से पूर्णतः प्रभावित है। अतः यह बात मात्र संयोग से नहीं है कि 'मलबे की ज़िंदगी' (योगेश्वर शर्मा) 'स्केपगोट' (फुल्ल) 'खतरनाक लोग' (सुदर्शन-वशिष्ठ) 'मुखौटा' (केशवचन्द्र) और 'मांस-भात' (नरेश) सीधे-सीधे राजनीतिक विषय-वस्तु की कहानियाँ हैं। 'डग्याली की रात' (श्रीनिवास जोशी) 'निरबंसिया', (राजकुमार राकेश) 'शंकर दास की चिटठी' (रेखा) कहानियों में गांव के प्रभावशाली लोगों व अधिकारियों का गठजोड़ व आतंकवाद की समस्या आई है। सुन्दर लोहिया की 'मिलते जुलते चेहरे' न्याय व्यवस्था के खोखलेपन को बेनकाब करती है। सिद्दीकी की 'डरपोक' परिवारिक विघटन, 'शेरनी की पूंछ' बौद्धिकों की सिद्धांतहीनता व स्वार्थपरता को सामने लाती है। हिमेश की कहानी 'धूयें में लुप्त एक याद' राजनीतिक-इतिहास के विषय से जुड़ी उपनिवेशवाद के विकास को स्पष्ट करती है। 'उसका खुदा' जनता की धर्म-निरपेक्षता व सदाशयता का उद्घाटन करती है। 'मातादीन अब नहीं है;—विजय सहगल की परिवारिक द्वन्द्व को खोलती कहानी है। 'चंदों' का स्वरूप प्रकाश पंत ने 'रंगभेद' को चिहिन्त करने की प्रेरणा वाला बना दिया है। रविसिंह राणा 'शाहीन' ने 'बंजारे' लिखकर देश में उनकी व उनकी तरह के लोगों की समस्या पर सोचने का मुद्दा उठाया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि इस संकलन की मात्र दो-त्रीन कहानियों को छोड़कर शेष सभी हाल के वर्षों में विपाशा पत्रिका में प्रकाशित हुई हैं। यह संपादक की ईमानदारी के खिलाफ जाता है कि उसने जानबूझ कर इस बात का कहीं ज़िक्र तक नहीं किया।

देव संस्कृति का लोक मूलक दर्शन

संस्कृति ज़ीवन पद्धति और उसके दर्शन की समग्रता की बोधक होती है। संस्कृति जीवन और कार्य और विचार की परिवर्तन-शीलता और निरंतरता की प्रतिपादक है। संस्कृति में रुढ़ कुछ नहीं होता। व्यवहार में संस्कृति शब्द को प्रायः जैसे प्रयुक्त किया जाता है उससे रुढ़ता का आभास होता है। मनुष्य अनवरत रचना प्रक्रिया से जुड़ा रहता है। उस रचना में वह प्रकृति को रुपांतरित करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भौतिक आधार का निर्माण करता है। शस्त्रास्त्र, उपकरण और उनके उपयोग-प्रयोग द्वारा प्राप्त राज्य, धरती और उत्पादन प्राप्त करता आया है। इसी क्रम में उसकी आस्थाओं व विचारों का विकास भी हुआ है।

देव संस्कृति के रूप में जो कुछ आज हमारे सामने है वह किसी काल विशेष या व्यापक काल खंड में विकसित होते रहे जीवन का प्रयत्न से सुरक्षित रखा हुआ रूप है और रुढ़ है। रुढ़ से आशय यह कि देव संस्थान द्वारा प्रतिपादित प्राचीन युगों की कार्यविधि आज जीवन-यापन के साधनों को उपलब्ध नहीं करवा सकती।

अतः इसके प्रति आस्था व श्रद्धा के बावजूद मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही अनुकूल परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

'माण्डव्य-प्रभा' के लेखक **डॉ. विद्या चन्द ठाकुर** का लोक-संस्कृति के प्रति लगाव जिसकी देव संस्कृति एक कड़ी है और यह चिन्ता कि आज के युग प्रभाव से लोक संस्कृति का स्वरूप ही बदल जायेगा व कुछ वर्षों बाद लोक द्वारा सदियों से सुरक्षित रखी हुई परम्परायें समाप्त हो जायेंगी प्रस्तुत पुस्तक के लेखन के उद्देश्य बताये गये हैं। देव स्थलों के भवनों, मंदिरों आदि का पारम्परिक स्वरूप इतिहास व पुरातत्व के प्रतीकों व स्मारकों से जुड़ा होने से संरक्षण की अपेक्षा करता है। आमुख में लेखक ने इन सरोकारों की चर्चा की है।

'माण्डव्य-प्रभा' में मण्डी जनपद के अंतर्गत इक्कीस देव स्थलों के बारे में परिचयात्मक सामग्री प्रस्तुत की गई है। प्रायः देवी या देवता के जन्म अथवा अस्तित्व में आने के संदर्भ में लेखक ने लोक-वार्ता व पौराणिक आख्यानों, दोनों की सहायता ली है। कहीं-कहीं इतिहास-ग्रंथों के भी हवाले हैं।

देवी देवताओं व उनसे जुड़े स्थलों से सम्बन्धित लेखन में तीर्थ जो नदी-तट या नदियों का संगम स्थल, कोई मनोरम वन-खंड या सुन्दर पहाड़ी की चोटी, सरोवर या जल स्रोत होता है, का वर्णन निश्चित ही आता है। मंदिर व मूर्तियाँ, द्वार, दीवारें, छतें छप्पर, कलश, मीनार, फूल व पेड़ सब चर्चा में आते हैं। देवी देवताओं के जन्म की कथायें जो सदियों से लोक मानस में क्रम से प्रवाह के समान प्रचलित रहीं हैं और जिनमें बावजूद हज़ार प्रयत्नों के सामाजिक तत्व समाविष्ट होते रहे हैं—चमत्कार भरी लगती हैं और चमत्कार की विश्वसनीयता पर हमेशा से प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है।

'माण्डव्य-प्रभा' में सूचना व मनोरंजन की सामग्री प्रचुर है। देवी-देवताओं से सम्बन्धित गाथाओं व किस्सों में अनेकों अद्भुत संदर्भ सम्मिलित हैं। उनकी अद्भुतता का आधार क्लासिकीय धार्मिक या दार्शनिक विचारों का प्रस्तुतीकरण नहीं बल्कि उसका लोक आस्था मूलक स्वरूप है। वर्षा व ओले मौसम की एक भौतिक प्रक्रिया है। फसल का उगना व पेड़-पौधों का फलना-फूलना, पशुओं व मनुष्यों के रोग-व्याधियाँ व जनन-प्रजनन निरंतर चलती प्राकृतिक व्यवस्था है, परन्तु यहां देवी-देवता वर्षा, ओलों, फसल, प्रजनन आदि के लिये अपने आपको उत्तरदायी बताते हैं। वे अपनी देव-भाषा का उपयोग करते हैं, अपने अस्तित्व को अपने गुरु-चेलों के माध्यम से आवेश द्वारा-प्रकट कर शक्ति प्रदर्शन भी करते हैं। उनके नाचने, प्रसन्न होने व नाराज़ होने के प्रसंग भी चर्चित होते हैं। इनका पुस्तक में ज़िक्र है। इस प्रकार वास्तव में माण्डव्य प्रभा में मण्डी जनपद के बहाने से पर्वतीय देव-संस्कृति का लोक मूलक दर्शन करवाया गया है।

शिव, शक्ति व वैष्णव देवता (अवतार) स्थानीय व प्राचीन देवी-देवताओं से भिन्न हैं। इन धार्मिक सम्प्रदायों के विचारों का दार्शनिक पक्ष इस क्षेत्र में गौण हो गया है और उनकी पूजा व अर्चना स्थानीय देवी-देवताओं के समान की जाने की परम्परा विकसित हुई है। विद्वान लेखक ने इन सम्प्रदायों के इस क्षेत्र में प्रचार-प्रसार के बारे में संकेत किया है।

अनेकों देव स्थल प्राकृतिक सौंदर्य के अनन्य क्षेत्र हैं। वहाँ पर सौंदर्य और दिव्यता के आपस में दूध-पानी के समान आत्मसात होने की स्थिति को डॉ. विद्या चन्द ठाकुर ने गद्-गद् होकर व्यक्त किया है, परन्तु कुछ पुराने देव-भवनों का पुनः निर्माण व कायांतरण चिंता के साथ दर्ज किया गया है। इस चिंता में पुरातात्विक महत्व की वस्तुओं के प्रति चेतना जागृत करने का संकेत है।

देव भवनों की निर्माण-शैली, देवी-देवताओं के क्षेत्र व स्थान, उनके नामकरण व स्थानों के नामों, उनकी शक्ति व मान्यता सम्बन्धी संक्षिप्त परन्तु सटीक वर्ण पुस्तक में है। सन्नारे क्षेत्र में एक ही शिला से तराश कर बनाया गया 'मशट्रियोल' नामक शिव मन्दिर, देवदार के एक ही पेड़ से बनाया गया पराशर का पैगोडा शैली का मंदिर व मगरु (करसोग) का छत्रेश्वर मंदिर जिस की छत पर काष्ठ में कई पौराणिक-पात्रों के चित्र उत्कीर्ण